छात्रहितकारी पुस्तकमाला सं०—३६

आत्म-संयम

लेखक

जगपति चतुर्वेदी, हिन्दीभूषण, विशारद

प्रस्तावना-लेखक

श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

[मगलाप्रसाद पुरस्कार-विजेता, रचयिता 'आस्तिकवाद', 'अद्वैतवाद', 'जीवात्मा' आदि]

प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज, प्रयाग

प्रथम संस्करण ११००] अक्तूबर १९४० [मू० १)

प्रकाशक

श्री केदारनाथ गुप्त, एम० ए०

प्रोप्राइटर:—छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज, प्रयाग।

मुद्रक

श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा,

नागरी प्रेस, दारागंज

प्रयाग

प्रस्तावना

दूसरों को दमन करने की इच्छा मनुष्य मे स्वाभाविक है। बच्चे आरम्भ से ही यह चाहने लगते हैं कि उनके माता-पिता उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते रहें। गृहस्थाश्रम मे पति चाहता है कि पत्नी सर्वथा उसके अनुकूल चले और पत्नी की इच्छाये पति पर स्वत्व प्राप्त करने की रहती हैं। सार्वजनिक जीवन मे नेता जनता को अपने वश मे रखना चाहता है और जनता नेता को अपने वश मे, परन्तु जहां प्रत्येक व्यक्ति अन्य समस्त प्राणियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की इच्छा करे वहा सफलता हो ही नहीं सकती। द्वन्द्व, प्रतिक्रिया, कलह और अन्त मे निराशा, यही तो होता है। जो बच्चा पहले आग्रह करता है, कुछ दिनों मे दुराग्रही हो जायगा। और दुराग्रह के फल-स्वरूप माता-पिता या अन्य लोगों द्वारा दण्डित भी होगा ही। जीवन के अन्य विभागो का भी वही हाल है। इसलिये यदि किसी काम में सफल होना चाहते हो तो उचित सीमा की खोज करनी होगी और यत्न करना होगा कि उस सीमा का उल्लघन न किया जाय। इसी का नाम है आत्म-सयम। अर्थात् अपने को नियम में रखना।

सस्कृत का शब्द 'अत्याचार', इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत' 'अति कभी न करे' क्योंकि 'अति' करना सीमा को लाघना हैं। 'अति' ही पाप है। अति न करने की शक्ति आत्म-संयम से ही प्राप्त होती है। इसके लिये बड़ा यत्न करन

पड़ता है। पतंजलि कहते हैं "योगश्चित्तवृत्ति निरोध" अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सीमा के भीतर रखना ही योग है।

स्कूल मे लडके क्रिकिट या फुटबाल खेलते हैं। एक कल्पित लकीर को लाघने से ही 'औट' हो जाते हैं। इसमें एक बड़ी शिक्षा है। सीमा के भीतर रहो। उसको लाघते ही पराजित हो जाओगे।

आत्म-सयम एक छोटा सा शब्द है परन्तु है बडा कठिन। राजा राज्य का पालन करता है। परन्तु 'राज्य' कितनी विशाल चीज है। सोचो तो सही! राज्य के कितने अग हैं! और उसमे से प्रत्येक ही अपनी महत्ता रखता है, सेना है, शासन है, न्यायसभा है, व्यापार है, कला-कौशल है, शिक्षा है, डाकतार, सडकें। इनमें से एक में भी त्रुटि हो तो समस्त राज्य-पालन मे विफलता हो जाती है। इसी प्रकार आत्म-संयम का क्षेत्र भी विस्तृत है। 'आत्मा' कहने को तो एक चीज़ है, परन्तु मन, बुद्धि, चित्त, अहकार रूपी अन्तः करण और आख, कान, हाथ, पैर आदि दस वाह्य करण, फिर इनके अवान्तर भेद! कितनी चीजे हो गई। इन्हीं सब को तो नियम मे रखना है। एक इन्द्रिय भी सीमा से बाहर हुई और समस्त जीवन प्रनष्ट हो सकता है। कभी-कभी एक छोटा सा विचार या एक छोटा सा असावधानी मे कहा हुआ शब्द बड़े बड़े साम्राज्यो को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। इसलिये आवश्यक है कि आत्मा के सभी विभागों को सयमित तथा नियमित किया जाय।

श्री जगपति चतुर्वेदी लिखित 'आत्म-सयम' नामक पुस्तक इसी आवश्यकता को दर्शाने के लिये लिखी गई है। हिन्दी भाषा मे ऐसी

पुस्तकें कम हैं। हर्ष है कि श्री चतुर्वेदी जी ने इस कमी को पूरा किया है। पुस्तक का आधार तो है रेवरेण्ड ए० टी० पियर्सन लिखित अगरेजी पुस्तक "Godly self-control" परन्तु अंगरेजी-पुस्तक ईसाई-जगत के लिये लिखी गई है और बाइबिल के ही उद्धरणों का आधिक्य है। श्री चतुर्वेदी जी ने बड़े चातुर्य से अगरेजी ढाचे में भारतीय रग भर दिये हैं। यह काम बड़ी कठिनता का था, अत्यन्त कठिन था। मुझे तो जान पड़ता है कि चतुर्वेदी जी को इसके लिये बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। परन्तु पुस्तक के आद्योपान्त अध्ययन से पता चलता है कि चतुर्वेदी जी इस कार्य मे बड़ी उत्तमता से उत्तीर्ण हुये हैं। पुस्तक पढने से यह नहीं जान पड़ता कि इसका मूलाधार कोई अन्य पुस्तक है।

जो लोग अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हैं उनको इस पुस्तक की छोटी छोटी बातों पर भी ध्यान देना चहिये। जीवन-निर्माण के बड़े बड़े नियम तो शास्त्रों तथा स्मृतियों मे मिलते ही हैं। परन्तु उनके पालन मे मनुष्य को प्रतिदिन क्या कठिनाइया पडती हैं उन्हीं को तो सावधानी से विचारना है।

हिन्दी-साहित्य के इस समयोचित सवर्धन पर चतुर्वेदी जी को बधाई है।

—गगाप्रसाद उपाध्याय

नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

—कठोपनिषद्

अर्थात् जिसका दुराचार बन्द नही होता, जो शान्त नही है, जिसका मन वश मे नही है, जिसके मन को धैर्य नही है, वह ज्ञान से भी भगवान को नहीं पाता ।

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ।।

—धम्मपद

अर्थात् पुरुष अपने ही अपना मालिक है, दूसरा कौन मालिक हो सकता है, अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर (वह एक) दुर्लभ मालिक को पाता है ।

विषय सूची

पृष्ठ

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्ड असञ्ञतो॥

—धम्मपद

अर्थात् असंयमी दुराचारी हो राष्ट्र का पिंड (देश का अन्न) खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है।

आत्म-संयम

विचारों का नियमन

विचार द्वारा ही चरित्र और आचार का निर्माण होता है। जहाँ पर विचार निवास करते है वे रहस्यमय स्थान एक अदृश्य शिल्पकार की गुप्त शिल्पशाला हैं, जहाँ वह एक अक्षुण्ण भविष्य के लिए जीवित मूर्तियो का निर्माण किया करता है। व्यक्तित्व और प्रभाव की वहीं पर रचना होती है। इसीलिए धर्म-ग्रंथो मे कहा गया है कि "अपने हृदय की पूर्ण परिश्रम पूर्वक रक्षा करो, क्योकि जीवन के स्रोत वही से प्रस्फुटित होते हैं।"

अनेक दृष्टिकोणो से हम लोगो के विचार संयमित रखने की महत्ता प्रकट होती है। उदाहरणार्थ किसी एक ही प्रकार के विषयो की ओर प्रेरित और अधिक समय तक लगाए विचार को ही ध्यान कहते हैं। अब इसमे यह बात बड़ा विशाल परिणाम उत्पन्न करने वाली है कि इस प्रकार का ध्यान पवित्र

सत्य, निर्दोष और उच्च वस्तुओं पर रक्खा गया है वा कुत्सित, अपवित्र और अधम पदार्थों पर निर्दिष्ट है। यदि मनुष्य के अभ्यस्त रूप से किए जाने वाले ध्यानों का रूप मालूम हो सके तो उसके आभ्यतरिक रूप का कितने निश्चय रूप से परिचय प्राप्त हो सकता है। क्योंकि "मनुष्य अपने हृदय मे जैसा विचार किया करता है, वह वैसा ही होता है।"

हम लोगों के ध्यान से यह भी पता चलता है कि हम क्या बनते जा रहे हैं, क्या होते जा रहे हैं। विचार मे ग्रहण-शक्ति भी होती है, इसके विषय और उद्देश्य, ज्ञात वा अज्ञात रूप मे हमें प्रभावित करते हैं। पहले जो एक भाव होता है, वह मूर्ति रूप बन जाता है। फिर वह एक आदर्श बन जाता है। वा यदि वह उत्साह सचारित करने वा प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न करने मे अधिक निकृष्ट और हलका होता है तो भी वह चाहे नैतिक और मानसिक दृष्टि के त्याज्य ही हो, फिर भी वह सूक्ष्म प्रभाव डालता है।

ध्यान का सहायक कल्पना शक्ति है। यह आत्मा का नेत्र है जो मानसिक दृष्टि-शक्ति है। चर्मचक्षु बंद हो सकते हैं वा अंधे हो सकते है किन्तु जो कुछ अवलोकन किया जा चुका रहता है उसका चित्र इच्छानुसार सामने खिंच आ सकता है, स्मरण शक्ति उसे स्मरण करने और सामने उपस्थित करने में सहायक होती है। अतएव मस्तिष्क के नेत्र के सन्मुख खिंचा हुआ प्रत्येक चित्र कल्पना-शक्ति की रचना होती है। इस प्रकार

कला के क्षेत्र मे इसका विशद भड़कीला कार्य दिखाई पड़ता है, उसके बिना कला की उत्पत्ति ही नही हो सकती। कालिदास की महान उपमाए, व्यास और बाल्मीकि के महाकाव्य, ससार के महान शिल्पकारो की भव्यकृतियाँ, विशाल प्रासाद तथा शिल्पविद्या के महान् कार्य इस सृजनात्मक शक्ति के विना किस प्रकार उत्पन्न हुए होते ? प्रत्येक शिल्पविद्या और ललित कला के कार्यों का जन्म लेखनी वा औजार से प्रारम्भ होने के पहले मस्तिष्क मे ही होता है।

पवित्र जीवन के लिए भी विचार, ध्यान, कल्पना-शक्ति कम आवश्यक नहीं हैं। उच्च वा नीच, महान वा अधम भाव और उनके चित्र विचार-शक्ति को घेरे रहते हैं और उच्च उद्देश्य वा अध्यवसाय वा नीच तथा संहारक उद्देश्यो और कार्यो के आधार बनते हैं। मनुष्य का विचार करने का स्वभाव ही मनुष्य का चरित्र निर्मित करता है और उसका पहले से ही आभास करा देता है। वह उसका सांचा है। यदि मनुष्य सत्ता और उच्चपद की कल्पना किया करता है तो वह अधिकाधिक महत्वाकांक्षी और स्वार्थी बनेगा, यदि वह धन का विचार करता है तो मक्खीचूस और लोभी बनेगा, यदि भोग-विलास का विचार किया करता है तो भोगी और विलासी बनेगा। उसकी कल्पना केवल स्वप्न मालूम पड़ सकती है जो कभी पूर्ण न हो सके, वह उसकी प्राप्ति वा सिद्धि में निराश और असफल हो सकता है, किन्तु वह जिस बात की आकांक्षा किया करता है, उसमें अस-

फल होने पर भी, उसकी उसके चरित्र पर अमिट छाप पड़ जाती है। जिन भावो और मूर्तियो पर उसकी मानसिक दृष्टि लगी रहती है, उनमे वह घुलमिल जाता है। वह चाहे कृपण वा दानी, पापात्मा वा धर्मात्मा, देवता अथवा दानव रूप की हो।

अतएव मनुष्य जिस साचे मे ढलता है उसके लिये हमे विचार के जीवन की ओर ही दृष्टि फेरनी चाहिए। मनुष्य के आचार की उत्पत्ति चरित्र से होती है और चरित्र की उत्पत्ति विचारो से होती है। मनुष्य का मुँह हृदय के भडार से शब्द उच्चारित करता है अतएव बोली का जन्म इस गुप्त अन्तःकरण से होता है। अतएव मनुष्य के हृदय पर ही परमात्मा दृष्टि रखता है, मनुष्य का मूल्य आंकने के लिये वह उसके हृदय को तौलता है। मनुष्य उन्नति और पवित्रता की खोज करते समय इस गुप्त जगत को प्रायः भूल जाया करता है, वह सदाचार और शील की उन्नति करने मे खुले दुराचार से वचित रह कर सतुष्ट हो जाता है। किन्तु भगवान की दृष्टि मे ऐसा कोई भी जीवन पवित्र नही है जहां विचार पाप से बिल्कुल रहित न हो। अनियन्त्रित विचार किसी न किसी समय जीभ पर वा बाह्य जीवन मे आ ही जाते है। इसीलिए महाभारत मे कहा है:—

काम जानामि ते मूल, संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां सकल्पयिष्यामि, समूलो न भविष्यसि ॥

"हे कामना, मैं जानता हूँ कि तेरी जड़ कहां है, तेरी उत्पत्ति सकल्प से है, मैं तेरा ध्यान ही न करूंगा, फिर तो तू जड़ समेत न रहेगी।"

किन्तु यदि आचार और विचार को पृथक भी किया जा सके तो क्या कुविचार स्वय भी वैसे ही पापमय नही है जितने किसी भी दूसरे प्रकार के दुष्कर्म जो भगवान के पवित्र नियमो के विरुद्ध होते हैं ? उनका हमारे सहजीवी व्यक्तियो पर उतना प्रभाव भले ही न हो जितना हमारी बातो और कामो का हो सकता है, किन्तु वे हमको और भगवान के साथ हमारे सबन्ध को अवश्य प्रभावित करते हैं। प्रत्येक कुकर्म का वांछित विचार वा उद्देश्य भगवान के मुंह पर की गई चोट है। विचार-जगत मे पहले उद्देश्य वा चित्र खड़ा होता है और वहीं पर यह निश्चय होता है कि हम किसके अनुरक्त बनेंगे। यही वह गर्त्त है जिसे कोई पाट नही सकता, यही अगाध, दुर्गम गर्त्त है जिससे आत्माएँ पहचानी जाती और पृथक की जाती हैं। स्वार्थमय उद्देश्य प्राय दुष्कर्मों का मार्ग बताते हैं किन्तु इस गुप्त-जगत मे जहां मानवीय नियमो की कोई बाधा नहीं होती और न मनुष्य की दृष्टि ही पहुँच सकती है, हम यथार्थ मनुष्य को देख सकते हैं। हम विचार-जगत मे मनुष्य के आत्म संयम के लिये कुछ नियमो की ओर संकेत करने का यहां प्रयत्न करते हैं।

पहली बात असंदिग्ध रूप से यह है कि जिन बातों का आधार अपवित्रता हो, उन सबका परिश्रम पूर्वक त्याग करना चाहिए।

भगवान को क्लेश पहुचाने वाली और हमे पतन की ओर ले जाने वाली अधम कल्पना से बड़ी कोई वस्तु नही है। यदि हम भगवान का ध्यान करना चाहते हो तो इस प्रकार के चित्रो को सहन नहीं किया जा सकता, वे वाछनीय तो बिल्कुल ही नही है। पवित्र जीवन और पवित्र विचार का बहुत अधिक सबध है।

इसी प्रकार हल्केपन से भी बचना चाहिए। यह पूछा जा सकता है कि जीवन के विविध रागात्मक संगीत मे परिहास का भी कोई स्थान है वा नहीं, जो अपने राग वा सुर से जीवन सगीत की मृदुलता में योग दे सके। ऐसे समय आते है जब कठोर गभीरता के बाद आमोद और हॅप्पी की मुद्रा मे मनोविनोद किया जा सके किन्तु हास्य मे उन्मत्त हो जाने पर पवित्र सीमा का उल्लघन हो जाता है और भगवान के प्रसाद का मर्दन हो जाता है। एक बाह्य आमोद मे नियत्रण रखना चाहिए, नही तो वह औचित्य की सीमा पार कर जायगा और नित्य की चचलता के वह समीप पाप बसता है। उससे अत्यधिक गभीरता और दृढ़ता भी क्षीण होने लगती है और अत मे नष्ट हो जाती है। अनुभव इस बात को बतलाता है कि जिस वार्तालाप का प्रारम्भ मुह से "मूर्ख" शब्द निकालकर होता है उसका अत बड़ी विकराल उन्मत्तता मे होता है। जब हॅसी की आदत पड जाती है तो उसमे अभद्रता और अश्रद्धा प्राय घर कर जाती है।

किन्तु हमें चित्त को उच्च और पवित्र वस्तुओ मे निश्चित रूप से सलग्न रखने की आवश्यकता है जो बुराइयो से दूर रखने

की एक नई और उच्चतर आसक्ति की शक्ति है। कोई भी व्यक्ति अधिक समय तक बुराइयो से दूर नहीं रह सकता जो सद्विचारो मे लिप्त नही रहता, खाली हृदय शैतान का कारखाना है, किन्तु स्वर्गीय वस्तुओ मे लिप्त रहने वाले मस्तिष्क मे उसके लिए स्थान नही होता।

विचारो के संयम के लिए मनुष्य को भगवान ने बुद्धि का बल दिया है। इन्द्रियो के निरोध के लिए भी बुद्धि ही को शास्त्रकारो ने प्रवल अस्त्र वर्णित किया है। भगवान कृष्ण गीता मे कहते हैं:—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु स ॥
एव बुद्धेः पर बुद्ध्वा सस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रु महाबाहो कामरूप दुरासदम् ॥

"इन्द्रिया प्रवल कहलाती है, इन्द्रियो से प्रवल मन है, मन से प्रवल बुद्धि है। और बुद्धि से प्रबल वह (आत्मा) है। हे महाबाहु अर्जुन, इस प्रकार बुद्धि से प्रवल आत्मा को जानकर और आत्मा से अपने को वश मे करके दुर्जय काम (कामना. विषय वासना) रूपी शत्रु को मार।"

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण.।
विगतेच्छाभय-क्रोधो य सदा मुक्त एव स ॥

"इन्द्रिय, मन, बुद्धि को जीते हुए और काम क्रोध, भय को दूर किए हुए जो मोक्ष परायण मुनि है वह सदा मुक्त ही है।"

इंद्रिय रूपी घोड़ों के लिए बुद्धि को सारथी कहते हुए कठ उपनिषदो मे लिखा है:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयं स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

"आत्मा को रथ का मालिक जानो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी और मन को लगाम। इन्द्रियो को घोड़े कहा है और विषय वासना उनमें सड़के हैं। जब शरीर इन्द्रिय मन के साथ युक्त है तब विद्वान उसे भोक्ता कहते हैं।" जो चतुर सामर्थ्यवान सारथी है वह दृढ़ता से लगाम पकड़ कर इस शरीर रूपी रथ को निश्चित रूप से लक्ष्य स्थल पर पहुँचा सकता है। इन्द्रिय मन और बुद्धि तीनो पर विजय पाने वाले व्यक्ति को गीता में मोक्ष का अधिकारी माना गया है—यथा--

सारथी की योग्यता के लिए लिखा है कि--

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

"परन्तु वह जो समत्व बुद्धि से ज्ञानवान है उसकी इन्द्रियां सारथी के श्रेष्ठ घोड़ो के समान वशीभूत होती हैं।"

श्रेष्ठ बुद्धि का लक्षण गीता मे लिखा है:--

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥

'हे अर्जुन, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग तथा कर्त्तव्य और अकर्तव्य को और भय एवं अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती है वह बुद्धि सात्विकी है।" स्थिर-बुद्धि व्यक्ति मोक्ष को का अधिकारी माना गया है। गीता मे उसका लक्षण इस प्रकार दिया है.--

दु.खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोध. स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।

"दुख मे उद्विग्नता रहित मन वाला, सुख मे निस्पृह वृत्ति वाला तथा कामना, भय और क्रोध से रहित मुनि स्थिर बुद्धि कहलाता है।" अपना कल्याण करने के लिए मनुष्य को बुद्धि की शरण मे जाने के लिए महर्षि वाल्मीकि ने रामायण मे उपदेश किया है.—

तत्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिंतय ।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥

"हे नर श्रेष्ठ, तू बुद्धि ही के द्वारा उसका यथार्थ विचार कर क्योकि बुद्धि ही के द्वारा ज्ञानवान भलाई बुराई की पहचान करते हैं।"

योग वाशिष्ठ मे भी लिखा है:--

न विचारं विना कश्चिदुपायोस्ति विपश्चिताम् ।
विचारादशुभ त्यक्त्वा शुभमायाति धीः सताम् ॥

"बुद्धिमान को विचार छोड़ कर दूसरा कोई उपाय नहीं, विचार से बुद्धि अशुभ को छोड़ कर शुभ को ग्रहण करती है।" अतएव महाभारत का यह कथन ठीक है कि:—

यस्मै देवा प्रयच्छन्ति, पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति॥

"देवता जिसको दुख देना चाहते हैं पहले उसकी बुद्धि हर लेते है, बुद्धि नाश से वह नीच कर्म करने लगता है।"

—∞—

२—अनुराग का नियमन

विचार करने और अनुभव करने की शक्तियो मे भेद होता है। हम विचार का सम्बन्ध मस्तिष्क से और अनुभव करने का हृदय से समझते है। यह सच है कि मस्तिष्क की क्रियाए रक्त-वाहक केन्द्रो को बहुत अधिक प्रभावित करती है और नाडी की गति मानसिक गति के अनुकूल परिवर्तित होती है, किन्तु यह जाना गया है कि उदर मे भी एक क्षुद्र मस्तिष्क होता है, जिसका अधिक सम्बन्ध मनोवेग—क्रियाशील उत्तेजना से होता है। सक्षेपतया हृदय उष्ण रक्तप्रवाह के साथ मनोभाव की उग्रता और तीक्ष्णता का बहुत अच्छा अनुमान कराता है।

सोचना मस्तिष्क की क्रिया है जो भावो और घटनाओ के सबन्ध की होती है, और आकर्षण वा विकर्षण की क्रिया आवश्यक रूप से उसमे नहीं होती। किन्तु मनोभाव, भावुकता वा अनुराग ये सभी इस प्रकार की क्रिया तृप्ति वा अतृप्ति, सतोष वा घृणा के रूप मे प्रकट करते है। उदाहरणार्थ, दो व्यक्तियों को देखा जाता है जो भिन्न भिन्न ससर्ग की बाते मन मे जगाते है, एक का सम्बन्ध असत्यता, विश्वासघात और क्रूरता से होता है और दूसरे का दयालुता, उदारता और सहृदयता से होता है। जब पहचान लेने और स्मरण कर लेने का कार्य मस्तिष्क कर

चुकता है तो मनोभाव और भावुकता जाग्रत होते हैं और उस दृश्य पदार्थ से आकृष्ट वा दूर होने की प्रवृत्ति होती है।

कुछ अनुभव विचार और मनोभाव की सीमा पर होते हैं, उन्हे 'बौद्धिक मनोवेग' कहा जा सकता है, जैसा कि केवल कला वा प्रतिभा कार्य होने के नाते किसी चित्र वा मूर्ति मे रुचि होने पर मस्तिष्क उस पर आनन्द से विभोर हो उठता है। यहां अनुराग के तौर की ही कुछ बात होती है, किन्तु यह अनुराग-क्षेत्र की बात कदापि नही होती। हम जब एक संगमरमर की प्रतिमा और माता के मुख देखने मे अपने ऊपर पडे प्रभाव में तुलना करे तो यह बात ज्ञात हो सकती है।

अब हमे सक्षेप मे अनुराग के सयम पर विचार करना है जिसमें मनोभाव और मनोवेग भी लिए जा सकते हैं किन्तु वे अधिक गंभीर और स्थायी हो। मनोवेग अपने उत्तेजक उपादान के साथ ही उत्पन्न और विलीन होता है जैसा कि वेदना सहानुभूति और दया का मनोवेग उत्पन्न करती है। राग, अनुराग या आसक्ति किसी वस्तु के प्रति अभ्यास पड़ा हुआ आकर्षण है, यह स्थायी प्रवृत्ति और स्वभाव होता है, वह अपने अस्तित्व वा स्थिरता के लिए उस वस्तु की विद्यमानता पर निर्भर नही करता। इस कारण मनोभाव और मनोवेग का संयम चाहे जितना आवश्यक हो, हृदय-जीवन की इन अधिक गंभीर स्थितियो का सयम करना बहुत ही गभीर परिणाम उत्पन्न करने वाला है। ये ही मनुष्य के चरित्र की कुञ्जी और भाग्य की भविष्य वाणी होती हैं।

इसी कारण सतो ने लिखा है कि 'स्वर्गीय विषयो का विचार ही न कर बल्कि अपनी अनुराग वृत्ति को उन्ही मे लगा, उन्ही मे नियोजित कर'। हमे इन स्वर्गीय विषयो की ओर ही स्थायी रूप से आकृष्ट, प्रवृत्त होना चाहिए, अपने अनुराग को लिपटने वाली लता की भाँति प्रभु मे आवेष्टित करना चाहिए। उन्ही मे तुष्टि और आश्रय पाना चाहिए। इन स्वर्गिक पदार्थों की खोज का अर्थ पार्थिव पदार्थो से अपना अनुराग बलपूर्वक खीच लेना है। तथा स्वर्गिक पदार्थों को ही ग्रहण करना अपना उद्देश्य समझना तथा उन्हीं की आकांक्षा करना और उन्ही मे आनन्द का अनुभव करना है। प्रभु और स्वर्ग से निम्न पदार्थ उसके ध्यान के केन्द्र और सचालक नही होने योग्य है।

इसका महत्व समझ सकने के लिए हमे अनुराग की शक्ति और मर्यादा का अवश्य अनुभव करना चाहिए। प्रभु की उच्चतम उपाधि यह है कि "प्रभु ही प्रेम है" शक्ति असीम होने पर भी केवल धाक उत्पन्न करती है। किन्तु असीम प्रेम वशीभूत कर लेता है, पिघला देता है और विजय पा जाता है। प्रभु का प्रसाद समस्त प्राणियो को कृतज्ञता की भावना से उद्वेलित कर देता है और कोमलता से उसे परिस्रावित कर देता है। तथा इसी प्रकार जब प्रभु हमे बहुत अधिक द्रवीभूत करना चाहते है तो वे हमे ऐसे प्रेम की झाँकी से द्रवीभूत कर देते हैं कि वह प्रभु का गुण नहीं रह जाता, बल्कि प्रभु का प्रतिरूप ही हो

जाता है। वे केवल प्रेमी और प्रेम के आधार ही नही रह जाते बल्कि स्वयं प्रेम बन जाते हैं।

हमारा अनुराग यह प्रकट करता है कि हमारा चरित्र वास्तविक रूप से क्या है और विचारों की अपेक्षा इस बात का पूर्वाभास अधिक देता है कि 'चरित्र कैसा बनेगा' क्योकि अनुराग ही हमारे विचारो के स्वभाव को अधिक मात्रा मे प्रभावित करते हैं, वे निश्चय करते हैं कि किन मूर्तियो का ध्यान करना हमे प्रिय है। पाप और पुण्य दोनो का निचोड़ अधिकतर इसी मे होता है। क्योकि पाप और पुण्य दोनो के कार्यो मे तनिक भी नैतिक विशेषता नहीं हो सकती, यदि उनके पीछे नैतिक रूप से अधिक पसंद करने की भावना न होती। पाप के प्रेम से पाप इतना घृणित बनता है और पुण्य का प्रेम धार्मिकता का मूल है। किन्तु पाप के प्रति हृदय की इस आसक्ति के बिना कल्पना को पाप के चित्रकार की भाँति, स्मरण-शक्ति को उससे कोष-सग्रहकर्त्ता की भाँति तथा इच्छा-शक्ति को इसके सेनानायक की भाँति किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है? इसके बिना तो शैतान का पंजा भी निरर्थक हो जायगा और उसके छल का हम लोगो पर कुछ प्रभाव न हो सकेगा जिस प्रकार कि भगवान शिव पर उसका कुछ प्रभाव नही पड़ सका।

इहलौकिक बुद्धि, अर्थात पार्थिव पदार्थों की चिन्ता जो भगवान के प्रति द्रोह है तथा पारलौकिक बुद्धि जो जीवन और शान्ति है, ये क्या हैं, केवल अनुराग के एक दिशा वा दूसरी

दिशा मे स्वाभाविक झुकाव हैं। जो व्यक्ति भगवान के प्रेम के आधीन नही हो जाता वह भगवान के नियमो का अनुगामी किस प्रकार हो सकता हैं। भगवान का प्रसाद भगवद्प्रेम को अकुरित और फिर उसे पल्लवित करने का लक्ष्य रखता है और जो भगवान के दास है उन्होने इहलौकिक अनुराग और कामना का विध्वस कर उन्हे भगवान के चरणो के नीचे समाधिस्थ कर दिया हैं जिसस आवागमन से वे मुक्त हो सके।

भौतिक सुख और भोग की इच्छा को कामना कहा जाता है। मनुष्य की इन्द्रियॉ इन विषय-भोगो मे लिप्त होकर मन को कलुषित कर देती हैं, और मन के इन्द्रियो का दास बने रहने से आत्मासंसार-बधन मे फॅसी रहती है। इस कारण मोक्ष-प्राप्ति के लिए मन को वश मे कर इन्द्रियो के सयम का आदेश धर्म ग्रन्थों मे दिया गया है।

विष्णु पुराण मे लिखा है :—

मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयोः।
वन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा॥

"मनुष्य का मन ही उसके मोक्ष और बधन दोनो का कारण है। उसके इन्द्रिय-विषयो मे लगने से बंधन होता है और इन्द्रिय विषयो से छूटना ही मोक्ष है।"

महाभारत मे भी लिखा है —

प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्।
दमेन हि समायुक्तो महान्त धर्ममश्नुते॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुद्धयते।
सुखं पर्येति लोकांश्च, मनश्चास्य प्रसीदति॥

"मनवश करने से मनुष्य इस लोक और परलोक मे परम सुख पाता है और मन को वश में होने से मनुष्य बड़े धर्म को प्राप्त होता है। मन वश करने वाला पुरुष आनन्द से सोता है, आनन्द से जगता है, और उसका चित्त सदा प्रसन्न रहता है और वह ससार मे सुख से चलता।

इस कारण गीता का यह उपदेश कितना सुन्दर है कि—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्माऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

"मन से अपना उद्धार करे और आपको न गिरावे, क्योकि मन ही अपना मित्र और मन ही अपना शत्रु है। उसका मन अपना मित्र है जिसका मन आप से जीता हुआ है परन्तु जिसका मन जीता हुआ नही है उसका मन तो शत्रु के समान वर्तता है।"

मन को वश मे करना सुगम कार्य नही है। श्रीमद्भागवत् मं ठीक ही लिखा है कि:—

मनो वशेऽन्ये ह्यभवं स्म देवा मनश्चनान्यस्य वश समेति।
भीष्मो हि देव सहसः सहीयान् युञ्ज्याद्वशे त सहि देवदेवः॥

"दूसरे इन्द्रिय देवता मन के वश मे है, परन्तु मन किसी दूसरे के वश मे नही रहता। मन बड़ा बलवान और भयकर है। जो मन को अपने वश मे करता है वह देवताओ का भी देवता है।"

मन को वश मे करना कितना कठिन है। इसे अर्जुन ने गीता मे कहा है.—

चञ्चल हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याह निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'हे कृष्ण, मन चचल, मथने वाला, बलवान और हठी है इसलिए मै उसका रोकना वायु के समान कठिन समझता हूँ।"

जो मन इतना दुर्दमनीय है। उसके निग्रह की नितान्त आवश्यकता क्यो है, इसे शास्त्रकारो ने भली भाँति समझा है, इसी कारण इसके वशीभूत करने की बराबर शिक्षा दी है।

श्री वेदव्यास ने इन्द्रियो और मन की रथ के घोड़े और सारथी से बहुत सुन्दर उपमा देकर महाभारत मे लिखा है:—

रथ शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियतेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्त कुशली सदश्वैर्दान्तै· सुखं याति रथीव धीरः॥

'हे राजन, पुरुष का शरीर रथ है, मन सारथी और इन्द्रियाँ घोड़े है, सावधान पुरुष इन-इन्द्रियो को वश करके सुखपूर्वक धीर रथी के समान चलता है।"

इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल-और मन को चलायमान करने वाली होती हैं। इन्द्रिय दमन की साधना करने-वाले बुद्धिमान लोगो

का भी मन इन्द्रियों के द्वारा चलायमान होकर विषय भोगों मे फँस जाता है। इस विषय मे गीता मे कहा है :—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

"हे कुन्ति पुत्र अर्जुन, यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी ये मथनेवाली इन्द्रियाँ निस्सन्देह वलपूर्वक हर लेती है।"

जो पुरुष अपने मन के द्वारा इन्द्रियो को अपने वश मे नही करता, प्रत्युत स्वयं इन्द्रियो के आधीन होता है, इन्द्रियाँ उसका नाश किए बिना नही रहती। महाभारत मे कहा है —

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवादान्ता हया पथि कुसारथिम्॥

"जैसे वेवश घोड़े मार्ग मे सारथी को मार डालते हैं वैसे ही ववश हुई इन्द्रियाँ मन रूपी सारथी का नाश करती हैं।"

गीता मे भी कहा है —

इन्द्रियाणा हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवांभसि॥

"जिसका मन विषयो मे विचरने वाली इन्द्रियो के आधीन होता है वह उसकी बुद्धि को ऐसे हर लेता है जैसे पवन जल मे नाव को।"

इसीलिए शास्त्रकारो ने इन्द्रिय-संयम का महत्त्व वहुत अधिक वतलाया है। महाभारत मे लिखा है कि—

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुनि यच्छेदर्थ धर्मयोः ।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥

"जो अर्थ धर्म पाने की इच्छा रखता है उसे पहले सब इन्द्रियों को वश करना चाहिए क्योंकि इन्द्रिय-दमन होने से बुद्धि ऐसी बढ़ती है जैसे अग्नि काठ के बढ़ने से।"

गीता में बतलाया गया है कि—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"जब यह सब ओर से इन्द्रियों को उनके विषयों से ऐसे खींच लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।"

कठ उपनिषद् में यह लिखा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

"जब सब कामनाएँ जो इसके हृदय में बसी हैं, छूट जाती हैं, तब वह मृत्यु से अमृत हो जाता है और यहां ही ब्रह्म को भोगता है।"

धम्मपद में चित्त के संयम के लिए भगवान गौतम बुद्ध का वचन है कि—

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥

"जैसे ठीक से न छाए घर मे वृष्टि घुस जाती है वैसे ही अभावित (न संयम किए) चित्त मे राग घुस जाता है।"

इसलिए भगवान बुद्ध ने आदेश दिया है:—

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं॥

"जो, कठिनाई से निग्रह योग्य, शीघ्रगामी, जहां चाहता है, वहां चला जाने वाला है (ऐसे) चित्त का दमन करना उत्तम है, दमन किया चित्त सुखप्रद होता है।"

सुदुद्दस सुनिपुणं यत्थ कामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावह॥

"कठिनाई से जानने योग्य, अत्यत चालाक, जहां चाहे वहां ले जाने वाले चित्त की बुद्धिमान रक्षा करे; सुरक्षित चित्त सुखप्रद होता है।"

हमारे अनुराग हमारे प्रभाव को भी निश्चित करते है। मनुष्य को अभिभूत कर देनेवाला मस्तिष्क उतना नही है जितना उसका हृदय है। ससार भर मे सबसे प्रवल शक्ति मस्तिष्क नहीं है; वल्कि प्रेम है। दलीलो से प्रायः विश्वास जमता है किन्तु प्रेम तो विरुद्ध दिशा मे बहा ले जाता है। स्कूल के सभी आकर्षणो के साथ अध्यापक की बुद्धिमत्ता माता के अनुरोध और आंसुओ की अपेक्षा कम प्रभाव डाल पाती है। जहाँ विशाल जन-समूह प्रभावोत्पादक भाषण से मुग्ध हो जाता है वहां भी वक्ता की सच्चाई और निश्छलता की शक्ति ही उन व्यक्तियो को भी

अनुगामी बना लेती है जो भिन्न मत रखते होते हैं। हम सब स्वम्भवतः अनुभव करते हैं कि वीरता का रहस्य उच्च अनुराग, निस्वार्थ प्रेम और त्याग है। एक प्रकार की न्याय-प्रियता से केवल शुष्क प्रशंसा के भाव जागरित होते है किन्तु सद्गुण जो न्याय-प्रियता ही है जिस मे प्रेम का भी पुट होता है, सद्गुणी व्यक्ति के लिए लोगो को प्राण-विसर्जन करने के लिए प्रवृत्त करता है।

यह वात निर्विवाद है कि जो वात चरित्र-निर्माण करने और प्रभाव निरूपित करने मे इतना अधिक भाग लेती है, वह निश्चय ही भाग्य का निर्णय करे। जब विश्वनियंता की न्याय-तुला अत मे लटके तो इसके अतिरिक्त दूसरी वात हो ही नहीं सकती कि केन्द्रीय अनुराग ही यह निश्चय करे कि तुलादण्ड को किस ओर बोझिल होना चाहिए। हमने जिसे अत्यधिक सच्चाई से प्रेम किया हो उसका अनन्त भविष्य से अवश्य ही मुख्य सबंध होना चाहिए, यह केवल स्वर्ग मे प्रवेश पाने के सबध में ही नहीं होना चाहिए बल्कि वहां के आनन्दोपभोग की मात्रा पर भी होना चाहिए।

जिस नियम से हमे स्वर्गीय पदार्थों से अनुराभ करने की आज्ञा मिलती है उसी से पार्थिक पदार्थों पर अनुराग रखने के निषेध की भी आज्ञा मिलती है। धर्म-ग्रन्थो मे पार्थिव पदार्थों के दो भेद कहे गए है, एक तो वे जो स्वय पापमय हैं और दूसरे वे जो आपेक्षिक रूपसे निरर्थक हैं। पहले प्रकार की

वस्तु सदा निषिद्ध है। दूसरे प्रकार की उस समय निषिद्ध है जब वह तल्लीन करदेने वाली और अधविश्वास युक्त हो जाती है।

पाप-पूर्ण पदार्थों के लिये केवल एक मार्ग है, उनका तुरन्त और पूर्णतया परित्याग करना चाहिए। प्रभुविहीन स्नेह के दमन का सबसे निश्चिन्त मार्ग यह है कि पाप का सम्पर्क सर्वथा त्याज्य किया जाय, पार्थिव पदार्थ के लिए तनिक भी स्थान न रक्खा जाय, शत्रु के लिए कोई भी स्थान न छोड़ा जाय। यदि दुर्ग पर भगवान का अधिकार कराना है तो शत्रु को बिना शर्त्त आधीन हो जाना चाहिए, तुरन्त ही स्थान से भाग जाना चाहिए। जाने हुए पाप के लिए भगवान के पास क्षमा नही है। उसे तुरन्त और सदा के लिए त्याग करना चाहिए। अनजाने, अनपहचाने पाप की बहुत पर्याप्त मात्रा सदा ही छूटी रहेगी।

ओछापन भगवद् भक्त के लिए उचित नही। हमारा जीवन इतना अधिक गभीर और सच्चा है कि उसे अज्ञानता, मूढ़ता, और दभ मे लीन नही रक्खा जा सकता। लकड़ी का घोड़ा दौड़ाने वा बुलबुल उड़ाने की अपेक्षा हम निश्चय ही अच्छे ढग से समय बिता सकते है। इस ससार का ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। यह बात उस व्यक्ति के लिये जानना पर्याप्त है जो भगवान का आदेश मानता हुआ सदा उसी का अनुवर्ती बना रहता है। यह सदेह-शील व्यक्ति को

यह सोचते हुए देख कर हमे दुख होता है कि यह करे वा वह करें। दुविधा उत्पन्न होने से ही इसको समझ लेना चाहिए । जो बात विश्वास से नही की जाती वह पाप है क्योकि जिस बात का स्पष्ट रूप से निषेध नही है वहां दुविधा उत्पन्न होने पर हमे उसे प्रश्रय देने का अर्थ यह है कि हम भगवान की पूर्ण भक्ति के ऊपर अपने झुकाव को तरजीह दे। भगवान हमारी परीक्षा लेने के लिए निषेध की आज्ञा से बाहर कुछ बाते यह देखने के लिए रख देते है कि हम सदेह के अवसर पर उनका पक्ष-ग्रहण करते है या दुविधा का लाभ उठा कर दूसरी ओर बहकते है। जब तक इस ससार के नश्वर भोग-विलास, सुख-सामग्री, इसकी मूढताएँ और ओछेपन, इसकी रङ्गरलियाँ और तड़क-भड़क निश्चय रूप से हमे अभिभूत किए हुए है, हमारे अनुराग पार्थिव पदार्थो से पृथक नही हो सकते और वे भगवान मे नही लग सकते। ऊँचे उठे हुए अनुराग के अनुभव से इन असारताओ से आत्मा को विराग उत्पन्न होता है, यही दिव्य जीवन और संसार की गोद से प्रभु के चरणों मे भगवद्भक्त के पहुँच जाने का सब से निश्चित लक्षण है।

पुण्य का भी निम्न रूप ध्यान और स्नेह की न्यूनता के कारण जघन्य हो सकता है। लोभ, भूख और हौसला तीनो लालसाएँ घृणित वृत्तियाँ है। प्रारम्भ मे वे उन्नति सुख और वृद्धि की सामर्थ्य थी, किन्तु अति होने पर वे उलटे परिणाम का नमूना है जो पहले साधन था, वही साध्य वस्तु हो गया। नौकर ही

स्वामी वन गया। धन को पहले लक्ष्मी रूप मे दया और सेवा का अवतार देखा जाता है किन्तु उसी का दास वन जाने पर उसका रूप दैत्य का हो जाता है। अकांक्षा नीचे गिरने पर हौसला वन जाती है और तव मनुष्य दूसरो को कुचल कर भी अपना पग वढ़ाने के लिए विवश हो जाता है। यदि धन वढ़े, तो अपने हृदय को उसमे लिप्त न कर दो, यदि उसमे लोभ उत्पन्न हुआ तो लाभ के स्थान पर वह हानि हुई। भगवान के दास के लिए पार्थिव पदार्थ की चिन्ता भयानक है क्योंकि नश्वर और क्षण-भगुर पदार्थ अनन्त लोक को अपना सच्चा निवास मानने वाले को न सतुष्ट कर सकते हैं और न करना चाहिए।

उन पदार्थों का विचार करो जिस पर मानव-प्रेम इतना शीघ्र नियोजित हो जाता है। क्या यह सम्भव हो सकता है कि मनुष्य कृपण भी हो और उसका हृदय कठोर, पत्थर और उसी तरह का निर्जीव न वन जाय जैसा धातु का टुकड़ा होता है जिसे वह हाथ मे लेता है? अथवा एक शक्ति के पद की प्राप्ति के लिए वह प्रतिष्ठा को धूल मे मिला दे वा आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रेम को लालसा मे परिवर्तित कर दे और इस वात का अनुभव न करे कि वह मानवता की अप्रतिष्ठा कर रहा है? हम सव लोगो को ईमानदारी से यह वात देखनी चाहिए कि हमारे प्रेम पर वास्तव मे किस वस्तु का अधिकार है, किसी वस्तु के चुन कर ग्रहण करने की कीली पर जा सूक्ष्म सुई आधारित है वह किस वस्तु से वास्तव मे खिचती है।

३—वृत्तियों का नियमन

मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व के अवयवो मे वृत्ति सब से अधिक दुर्दमनीय होती है और किसी भी भीषण परिवर्तन से बहुत ही देर मे अभिभूत होने वाली होती है। वृत्ति का अर्थ चरित्र की विशेपता का है जो किसी विशेप दिशा मे झुकता है, इसका अर्थ स्वाभाविक झुकाव, रुचि वा ग्रहणशीलता है।

वृत्ति भावुकता अनुरक्ति वा उद्वेग का पर्यायवाची शब्द नही है। अनुरक्ति उत्पन्न होने वा उद्वेग जागृत होने के पहले भी वृत्ति रहती है जो दोनो के उभाड़ने मे प्रवृत्त होती है। इस प्रकार ईर्ष्या वा द्वेप वृत्ति प्रतिस्पर्द्धी के प्रति घृणा उत्पन्न करती है और प्रहार वा वध करने तक का प्रचण्ड उद्वेग उत्पन्न कर सकती है। मस्तिष्क परिश्रम वा आलस्य, उद्योगशीलता वा उद्योग-हीनता की ओर प्रवृत्त होता है और हृदय कोमलता वा कठोरता, आत्म-गौरव वा आत्म-लघुता की ओर।

महर्षि पातञ्जलि ने सभी चित्तवृत्तियो का निरोध ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है। योग मे लिखा है—योगश्चित्तवृत्ति-निरोध.-अर्थात "चित्त-वृत्तियो. का निरोध ही योग है।" और योग ही मोक्ष का साधन माना गया है।

वहुत सी वाते जो व्याख्या करने मे सुगम नहीं होतीं, समझने मे सुगम होती हैं और वहुत कम लोग ऐसे होगे जो चित्त-वृत्ति की दृढ़ दुर्दमनीयता का कष्ट के साथ ज्ञान न रखते हो।

धर्म ग्रन्थो मे कहा गया है कि "अपने मस्तिष्क की आत्मा को परिष्कृत कर रक्खो।" परिष्कार करने का अर्थ नया वनाना, विल्कुल कायापलट कर देना है। मस्तिष्क की आत्मा कहने से यह प्रतीत होता है मानो मस्तिष्क मे भी एक कोई दूसरा सूक्ष्म मस्तिष्क होता है। जिस प्रकार फूल केवल रूप और रग से ही निर्मित नही होता वल्कि इन दोनो से ही अधिक सूक्ष्म और अ-वश्य वस्तु गध से भी वनता है, उसी प्रकार गुप्त आत्मा भी जो इतनी सूक्ष्म और अ वश्य 'होती है, अपना गध रखती है, जो एक प्रकार की व्यापक स्वर-लहरी, आकर्षण और विकर्षण का एक गुण होती है जो वर्णनातीत किन्तु अनुभव- म्य होती है और दूसरे किसी अन्य लक्षण की अपेक्षा अधिक व्यापक-रूप से प्रभावोत्पादक होती है।

प्रभु के प्रसाद के लिए एक अनुकूल क्षेत्र होता है और पूर्ण रूप से कायापलट तथा गतव्य स्थल का साधारण तथा अतिम रूप होता है। फिर भी चरित्रो की निम्नतम विकृतिया दुष्ट प्रकृति के कुप्रभाव के कारण ही उत्पन्न होती है।

वृति के परिष्कार की आवश्यकता सार्वभौमिक होती है। प्रत्येक स्वाभाविक वृत्ति कुछ अश तक पाप की कुवृत्ति उत्पन्न करती है, इस कारण उस को प्रभुप्रसाद की ओर परिवर्तित होने

की आवश्यकता होती है। कुछ विकृति कम प्रत्यक्ष होती है किन्तु वह यथार्थ मे कम नही होती जिस प्रकार शरीर की भीतरी बनावट मे बेडौल रचना हो जो व्यक्ति के बाह्य रूप को विकृत न करे। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात हो सकता है कि प्रत्येक स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिष्कार करने की आवश्यकता है। हम आगे इसे अधिक स्पष्ट रूप से देखेगे।

दो प्रवृत्तियां विशेष रूप से विकर्षणात्मक होती है, वैमनस्य और विश्वासघात और इनके अनेक रूप होते है।

कुछ लोगो मे हानि पहुँचाने की स्वाभाविक वृत्ति होती है, जो नीरो या नादिरशाह की तरह क्रूरता और निष्ठुरता की सीमा तक नही पहुँच सकती, किन्तु कुछ हल्के रूप मे दूसरों के दुर्भाग्य, और सकट मे प्रसन्नता का अनुभव करने वाली होती है वा दूसरो की अपकीर्ति और निन्दा सुनने मे बर्बस उत्सुकता प्रकट करने वाली होती है।

भर्तृहरि ने कितना सुन्दर लिखा है —

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभि· प्रीणयन्त ।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्य
निजहृदि विकसत सति सत. कियंत. ॥

"मन, वचन और शरीर द्वारा पुण्य रूप अमृत से भरे हुए और तीनो लोको को उपकार द्वारा प्रसन्न रखने वाले और पराये के अणु समान गुण को पर्वत के समान बढ़ा कर दिखाने वाले हम

कितने पुरुष पाते है ?" लोगो को अपनी मडली मे किसी अन्य अनुपस्थित व्यक्ति की निन्दा बखान करने की बड़ी स्वाभाविक इच्छा हुआ करती है। एक बार एक गोष्टी मे एक अनुपस्थित व्यक्ति की चर्चा चलने की बारी आई तो उपस्थित व्यक्तियो मे से एक विचारवान सदस्य उठ कर खडा हुआ और उसने गोष्टी के अन्य व्यक्तियो को सम्बोधित कर कहना प्रारम्भ किया कि "भाइयो, अब किसके वध किए जाने की बारी है ?"

भर्तृहरि ने लिखा है —

लोभश्चेदगुणेन कि पिशुनता यद्यस्ति कि पातकै:।

अर्थात् "यदि मन मे लोभ है तो अवगुण की क्या कमी, यदि परोक्ष मे किसी के दोष कहने की आदत है तो पाप का क्या काम ?"

दूसरो मे दोष ढूँढ़ने की वृत्ति को धम्मपद मे गर्हित बतलाया है —

परवज्जानुपस्सिस्स निच्च उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा स आसवक्खया॥

"दूसरो के दोषो की खोज मे रहने वाले, सदा हाय हाय करने वाले (पुरुष) के चित्तमल बढ़ते हैं, वह चित्तमल के विनाश से दूर हटा हुआ है।"

कबीर ने भी दूसरों के दोष ढूंढ़ने वालो की बड़ी भर्त्सना की है:—

दोष पराए देखि के, चले हसन्त हसन्त ।
अपने याद न आवई, जिनका आदि न अन्त ॥

भगवान बुद्ध का यह आदेश भी कितना सुन्दर हैः—

सुदस्स वज्जमञ्ञेस अत्तनो पन दुद्दस ।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुस ।
अत्तनो पन छादेति कलिं, वं कितवा सठो ॥

"दूसरे का दोष देखना आसान है, किन्तु अपना देखना कठिन है,वह (पुरुष) दूसरो के ही दोषो को भुस की भांति उड़ाता फिरता है, किन्तु अपने दोषो को वैसे ही ढांकता है जैसे शठ जुआरी से पासे को ।"

वैमनस्य की श्रेणी मे ईर्ष्या और द्वेष वृत्तिया है जो परस्पर मिलती जुलती ही होती है । वर्तमान समय मे कोई व्यक्ति जो कुछ उच्चता वा उन्नति प्राप्त किए रहता है उसके प्रति मनुष्य द्वेष रखने लगता है और ईर्ष्या वा स्पर्द्धा उसके प्रति रक्खी जाती है जो कुछ उन्नति कोई करता होता है । ये दोनो वृत्तियां वैमनस्यात्मक और विश्वासघातक होती है क्योकि वे अपनी सफलता दूसरो की असफलता कराकर प्राप्त करने को सन्नद्ध होती हैं, और विकट रूप की स्वार्थ वृत्ति जागृति करती है और निन्दा करने के कुकर्म तक मे प्रवृत्त करती है ।

अपकार वैमनस्य वृत्ति का ही हल्का रूप होता है। दूसरो की सुख-वृद्धि के लिए तुच्छ त्याग भी करने वा उसका अवसर आने देनेके लिए तैयार न होना, किसी का तनिक कष्ट दूर करने वा

कुछ सहायता पहुँचा देने की अनिच्छा करना, जिस वस्तु का स्वय लाभ न उठाया जा सकता हो उससे भी किसी को लाभ उठाने न देने की प्रवृत्ति-ये सभी अपकार वृत्ति के रूप हैं। ऐसें - महान व्यक्ति वहुत थोड़े होते हैं जो अपनी हानि उठाकर भी दूसरे का उपकार करे वा अपना अहित न होने पर दूसरे का भला होने देने वाले व्यक्ति भी अधिक नहीं होते परन्तु अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अहित करने वाले अधम व्यक्तियो की कमी नही होती किन्तु कुछ ऐसे भी महानीच होते हैं जो निरर्थक ही दूसरे की हानि करते हैं।

भर्तृहरि शतक मे लिखा है:—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटका स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत. स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानुषराक्षसा. परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थक परहितं ते केन जानीमहे॥

"वे उत्तम पुरुष होते हैं जो पराये हित के लिए अपने स्वार्थ का परित्याग करते हैं, तथा वे पुरुष मध्यम होते हैं जो अपने स्वार्थ का सघर्ष न होने पर दूसरे का हित करते है, तथा वे पुरुष राक्षस रूप होते हैं जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का काम बिगाड़ाते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अपना कोई स्वार्थ सिद्ध न होते हुए भी निरर्थक ही दूसरे का अहित करते है, उन पुरुषो को क्या जाना जाय।" उद्योगहीनता की वृत्ति सहज ही अपकार वृत्ति की ओर झुक जाती है क्योकि उद्योगहीनता की वृत्ति

सभी प्रकार के उद्योग से दूर भागती है, दूसरे का बोझ उठाने को कौन कहे, उ .मे हिस्सा बाटने तक से अनिच्छुक होती है।

असहिष्णु वृत्ति बहुत पाई जाती है, और यह वैमनस्य वृत्ति की तरह ही होती है। औरङ्गजेब की तरह अपने मत से भिन्न सभी व्यक्तियो पर कुठाराघात करने की तरह वृत्ति किसी मे न हो, फिर भी वह विचार-भेद और प्रतिकूलता को सहन न कर सकने वाले, और अपने विचारो के खडन पर क्रोध भाव को न रोक सकने वाले हो सकते है। अधिकांश मनुष्यो मे दूसरो का दमन करने की वृत्ति चाहे न हो किन्तु उनमें निरकुश होने की वृत्ति सन्निहित होती है। जिन जिन भावनाओ के आधीन मनुष्य अपने विचारो के विपक्षी की उग्ररूप से तुच्छता घोषित करता है, वा विरोधी मतावलम्बी का घोर खडन करता है, उपयुक्त परिस्थिति होने पर उन्ही भावनाओ के फल स्वरूप वह विरोधियो का भयङ्कर बध और सहार करता भी दिखाई पड़ सकता है।

लोगो मे अपने विचारो पर हठपूर्वक टिके रहने की वृत्ति होती है जो अपनी बात को कभी भी गलत मानने के लिए तैयार ही नहीं होते, वे कठदलील देने वा विपक्षी की युक्ति की सच्चाई पर पर्दा डालते रहने के लिए सदा तैयार रहते हैं। दो पक्षो के विरोध दूर करने के लिए तनिक परस्पर दब जाने वा भूल स्वीकार कर कोई सुगम मार्ग बनाने की बात सुनने के लिए वे तैयार ही नही हो सकते; समझौते के लिए निवेदन करते समय

भी वे इस प्रकार निवेदन करते है मानो वे ही बिल्कुल सत्य पक्ष पर हो और अन्य सभी व्यक्ति मिथ्या पक्ष के। उनका पहलू तो इसी प्रकार का होता है जैसा एक सिह का हो जो किसी बकरी के साथ बैठने के लिए राजी हो जाय किन्तु यह शर्त रखे कि बकरी उसके पंजे मे रक्खी जाय।

हठ शीघ्र ही असहिष्णुता के रूप मे बदल जाता है। निस्सदेह यह दृढ़ चरित्र का लक्षण है किन्तु इसका शमन और भी दृढ़ता का द्योतक है। निकृष्टतम रूप मे कदाचित यह मनुष्य और ईश्वर के विपक्ष सभी पापो का मूल है, क्योकि यह अहंभाव को सर्वोपरि और सर्वोच्च पद प्रदान करता है। हल्के रूप मे यह परिवार और समाज की सच्ची शान्ति के लिए घातक होता है। और मस्तिष्क तथा मनोवृत्ति की असमानता के आधार पर पुरुष तथा स्त्री तक को पृथक कर देता है।

विश्वासघातक वृत्ति हमे दूसरो के साथ धोखा करने के लिए उन्मुख करती है और हम मे सर्वश्रेष्ठ को भी स्वभावतया इतिहास-प्रसिद्ध विश्वास-घातको की श्रेणी ला पटकती है। पूर्ण विश्वासपात्र व्यक्ति दुर्लभ है। चाटुकारिता के अत्यधिक मधुर शब्दो मे भी कभी कभी हमे विश्वासघात का अनुभव होता है, प्राय. ऐसा होता है कि स्पष्टोक्ति के कारण हम लोगो की हँसी उड़ाई जाती है और हमारे साथ विश्वासघात किया जाता है, लोग हमारे मुँह पर मीठी बाते करते और पीठ फिरते ही निन्दा करने लगते हैं। एक भद्र पुरुष ने अपने एक प्रशसक

के विषय मे एक बार ठीक ही कहा था कि "वह व्यक्ति मुझ मे घृणा की भावना उत्पन्न करता है। जब वह मेरे मुँह पर मेरी अत्यधिक प्रशंसा करने लगता है तो मुझे अनुभव होता है मानो एक अजगर साँप मुझे निगल जाने के लिए अपनी जीभ लपलपा रहा हो।"

यह भी हल्के ढङ्ग का विश्वासघात ही है जो दूसरे के चरित्र वा प्रतिष्ठा अथवा किए हुए विश्वासो के प्रति अविचार पूर्वक तथा लापरवाही से तुच्छता का बर्ताव करना सम्भव बनाता है। कपट का सब व्यवहार विश्वासघात की ही उपज है। प्रत्येक दो-तरफी बात निकालने वाले मुँह और छल कपट के तल मे विश्वासघात निहित होता है। युधिष्ठिर को "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुजरो वा" की द्वयर्थक बात निकालने के लिए हिमालय मे अगूठा गला कर अपना प्रायश्चित्त करना पड़ा था।

अधीरता का बहुत अधिक प्रसार है। यह प्रचुर क्रियाशीलता की प्राय. आवश्यक धात्री मालूम पड़ती है। शक्ति और प्रगतियो की तीव्रता मनुष्य को विलम्ब और बाधाओ के कारण स्वभावत· अधीर बना देती है और बहुत अधिक क्लान्त मस्तिष्क और स्नायुओं का भौतिक परिणाम प्राय. चिडचिड़ापन होता है, किन्तु इसका कारण चाहे जो हो, यह अनुचित बात है कि प्रत्येक बात पर, प्रत्येक स्पर्श पर साही के काँटे खड़खड़ाने की भाँति उत्तेजित हुआ जाय और एक निरर्थक सम्वेदन-शीलता मे सलग्न

हुआ जाय जो जीवन को एक विषमताओं की लड़ी बनाने में अधिक प्रवृत्त हो।

आलोचनात्मक वृत्ति बहुत ही अधिक संकटों की जननी है। यह वर्षा की निरन्तर झड़ी की तरह है। कभी भी पूर्ण संतुष्ट न होना, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु में छिद्रान्वेषण करते रहना, तुनुकमिजाज और आडंबर-पूर्ण होना, सूक्ष्म आचार, नियम-निष्ठा की एक सीमा तक पहुँच जाना, इन बातों के कारण मनुष्य जंगली मनुष्य का साथ पकड़ने की आकांक्षा करने को विवश होता है, जिसकी अधिक भद्दी प्रकृति और साधारण रुचियाँ कम दुरूह होंगी। इतनी छोटी बात ने आनन्द के स्रोत अनेक घरों को दुखदायी झोपड़ों के रूप में बदल दिया है।

यदि सभी कुप्रवृत्तियाँ लापरवाही और अविचारशीलता से अधिक बुरे उद्‌गमों से न उत्पन्न होती हों तब भी ऐसी आत्मलीनता से दूसरों को दुख पहुँचाना कम पाप नहीं है। अविचारी होने का किसी को अधिकार नहीं है और यह भारी गलती है कि निर्भीकता को इतना भद्दा होने दिया जाय तथा स्पष्टता को इतना अभद्र होने दिया जाय कि किसी के ईमानदारी से अपनी सम्मति प्रकट करने से किसी को अनावश्यक रूप से आघात पहुँचे। चुस्त हाजिरजवाबी के कारण कितने ही व्यक्ति शत्रु को ही नहीं बल्कि मित्र को भी संतप्त कर देते हैं और अनेक

उत्कट परिहासो में बिच्छू के डंक मारने ऐसी कठोरता होती है।

इसी कारण भगवान मनु ने आदेश दिया है:—

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रिय च नानृत ब्रूयादेष धर्म सनातन॰ ॥

"सत्य बोले और प्रिय बोले और सत्य भी अप्रिय न बोले, प्रिय भी झूठ न बोले, यही सनातन काल का धर्म है।"

भगवान बुद्ध का भी आदेश है—

मा वोच फरुसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु त।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं॥

"कठोर वचन न बोलो, बोलने पर (दूसरे भी वैसे ही तुम्हे बोलेगे, दुर्वचन दु ख-दायक (होते है) (बोलने से) बदले मे तुम्हे दण्ड मिलेगा।"

यह लोगो मे बहुत अधिक प्रचलित एक धारणा है कि जो वृत्तियां स्वभावतया उत्तम होती हैं उनके परिष्कार के सजावट की आवश्यकता नही होती। किन्तु यह धारणा बिल्कुल भ्रान्त और प्रभु के लिए अप्रतिष्ठा-जनक है। यदि यह धारणा भ्रान्त न हो तो कुछ विशिष्ट व्यक्तियो के नैतिक जीवन का कुछ अंश मानसिक परिष्कार की आवश्यकता न होने पर भगवान से भी उच्च स्थान प्राप्त करे।

यह धारणा जितनी भ्रान्त है उतनी ही सूक्ष्म भी है। हम लोगो के प्राकृतिक सद्गुणो के रूपान्तर की भी आवश्यकता होती

है। उदाहरणार्थ एक स्वाभाविक सत्यनिष्ठा की वृत्ति प्रायः विनय की अपेक्षा गर्व से मिश्रित हो सकती है जो उतावला और अनुदार निर्णयो और भद्दी अविचारी स्पष्टताओ की ओर प्रवृत्त हो सकती है, और निर्भीकता दिखाने मे कुछ भूल कर सकती है जो केवल अनुदार ही न हो, बल्कि धृष्ठ भी हो। प्रभुप्रसाद इसका निग्रह करता है और हमे सत्य को प्रेम के साथ बोलने के लिए शिक्षा देता है, दूसरो की भावनाओ की रक्षा करना और यदि भर्त्सना करने की आवश्यकता हो तो उसे अकेले मे वा इस तरह कहना सिखाता है जिससे दूसरे को आघात पहुँचाने वा नीचा दिखाने के स्थान पर वह सीख की बात मालूम पड़े। जो लोग यह कहने का दम करते हैं कि "हम सदा वही बात कहते है जो न्यायपूर्ण जान पड़ती है" वे कदाचित अपनी लज्जा मे गर्व का अनुभव करते है।

स्वभावतया मधुर वृत्ति को भी प्रभुप्रसाद के परिष्कारक स्पर्श की आवश्यकता होती है अन्यथा उसमे मिथ्याचारो का प्रतिरोध करने और बुराइयो के विपक्ष पश्चात्ताप करने मे दृढ़ता और निश्चितता का अभाव होता है। एक प्रकार से मधुर वृत्ति को रीढ़-विहीन कह सकते है जो ढीलेपन के कारण लचक जाया करती है। ससार मे बिना पवित्र की हुई उदारता से बढ़ कर अधिक हानिकर कोई भी वस्तु नही हो सकती। परिवार मे यह माता के हाथ मे दृढ़ता के साथ शासनाधिकार नहीं रहने देती जिससे घर के बच्चे आवश्यकतानुसार परिवार के बनाए

अनुशासन को भग करते रह सकते हैं। राष्ट्र के मामले मे यह राज-दड को खिलवाड़ और कानूनो को रद्दी कागज के टुकड़े, न्यायालयों को परिहास का रूप दे देती है जिससे कानून भग करने वाले अदडित फिरते रह सकते है और भद्र नागरिक अरक्षित रह सकते हैं।

हम लोगों के अंदर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो उसी प्रकार बनी रह सके जैसी वह प्राकृतिक रूप मे रही हो। प्रकृति जिस वस्तु का निर्माण करती है, प्रभु-प्रसाद उसी का पुनर्निर्माण करता है अन्यथा वह वस्तु दोष पूर्ण रह जाती है। प्राकृतिक पवित्रता दैवी प्रसाद की श्रेणी से बहुत निम्न होती है। जिस प्रकार सामान्यत· प्रकृति की देन की अपेक्षा सस्कृति के फलस्वरूप हमारी इच्छाओ और उद्योग के द्वारा वास्तविक पौरुष और मानवता का उदय होता है, उसी प्रकार मानसिक जीवन-क्षेत्र मे हमारे चरित्र का वास्तविक सौष्ठव इस बात से नही उत्पन्न होता कि हम जन्म से क्या हैं बल्कि प्रार्थना-पूर्वक आत्म निग्रह और अपने को बर्बस भगवान का अनुगामी बनाने से उत्पन्न होता है।

इससे प्रतीत होता है कि दैवी विभाजन मे हम लोगो के अनुमान से अधिक न्याय और निष्पक्षता है। मस्तिष्क और मनोवृत्ति की कदाचित कोई भी प्राकृतिक विशेषता ऐसी नहीं होती जिस मे दृढ़ता और निर्बलता दोनो के तत्व न हों। क्रोध के भी कुछ लाभ होते हैं। नियंत्रित होने पर और वश मे रक्खे

जाने पर यह बल और शक्ति का तत्व उत्पन्न करने वाला साधन बन जाता है जिससे साहस-पूर्ण कार्य करना सम्भव होता है। सेतुबन्धन के समय रामचद्र जी का क्रोध-प्रदर्शन क्रोध के उचित उपयोग का सुन्दर उदाहरण है। तुलसीदास जी ने बड़े सुन्दर शब्दो मे लिखा है :—

विनय न मानत जलधि जल, गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होय न प्रीति॥
काटहि पै कदली फरइ, कोटि जतनु करू सींच।
विनय न मान खगेस सुनु, डाटहि पै नव नीच॥

उद्वेग अनियन्त्रित रूप मे लिप्त हो जाने पर नर्क का द्वार खोल देते है किन्तु अन्तरात्मा और भगवद्भक्ति द्वारा नियन्त्रित होने पर महात्माओ का जन्म देते है।

कभी कभी दुष्ट वृत्तियां सुप्तावस्था मे होती है जिनको सोते हुए अजगर के समान जगाने की आवश्यकता पड़ती है, उपयुक्त उत्तेजना मिलने पर वे सक्रिय होती है।

वृत्ति निस्सदिग्ध रूप से हमारे सत्य की धारणा को भी प्रभावित करती है। यह सत्य को देखने के लिए माध्यम है जिसके द्वारा यह तोडा मरोडा विद्रूप और विवर्ण किया जा सकता है, जैसा कि रग रग के चश्मे से दृश्य पदार्थ भिन्न भिन्न रूप मे देखा जाता है। जो व्यक्ति स्वेच्छाचारी, प्रतिहिंसात्मक, उद्धत प्रकृति का होगा वह भगवान को भी स्वेच्छाचारी, प्रतिहिंसात्मक और क्रोधी रूप मे चित्रित करेगा। अनजाने ही वह

अपनी सदोष मनोवृत्ति की धुंधली ज्योति मे देखने के कारण दैवी पदार्थों के संबन्ध मे अपनी धारणा विवर्ण कर लेगा। बहुत से व्यक्ति लोगो को पाप का भय दिखाते हुए भगवान द्वारा अत्यन्त क्रूर दड मिलने, उनके द्वारा मनुष्यो को असह्य वेदना मिलने का वडा भयानक चित्र खीचते है। यह परम कारुणिक, दया की मूर्ति, अशरण-शरण भगवान पर भारी लांछन ही है और उसे निरर्थक ही निष्ठुर यमदूत के रूप मे चित्रित करना है।

सब बातो से अधिक वृत्तियाँ यह प्रकट करती है कि मनुष्य अतर्तम मे क्या है, इस कारण यह मनुष्य का प्रभाव भी निर्धारित करती है। महात्माओ ने अतर्तम को ज्योतिर्मय करने का उपदेश दिया है। ज्योति विश्व की सृजित सम्पूर्ण वस्तुओ मे सबसे पावन पदार्थ है और इस पर भ्रष्ट होने का कलक नही लग सकता, तथापि यह ज्योति अन्तर्तम मे निर्धूम, निश्शब्द प्रदीप्त रहती है। यह मूक शक्ति साधको और उपदेशको के अतराल मे विद्यमान कदाचित शक्ति का सब से प्रबल स्रोत है। बहुत से उपदेशक अपने उपदेशो का अपने आचार व्यवहार से स्वय ही खडन करते है। उनके उपदेशो का प्रभाव उनकी प्रकृति और व्यवहार के कारण पूर्णतया नही तो आशिक रूप से अवश्य ही विनष्ट हो जाता है। उपदेश करना सरल है किन्तु उसके अनुसार आचरण करना कठिन है तुसीदास ने लिखा है:—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

भगवान बुद्ध का भी वचन है कि:—

यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्त अगन्धक।
एव सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ॥

"जैसे रुचिर और वर्णयुक्त (किन्तु) गधरहित फूल है, वैसे ही (कथनानुसार) आचरण न करने वाले की सुभाषित वाणी भी निष्फल है।"

जो व्यक्ति अपने उपदेश के अनुरूप अपना आचरण नही कर सकता अपने आचार-व्यवहार का उदाहरण अपने उपदेशों के अनुरूप स्वयं लोगो के सम्मुख रख कर अपना उपदेश सार्थक नहीं कर सकता, उसको उपदेश करने का क्या अधिकार है ?

निस्सन्देह ही हमारी वृत्तिया मुख्यरूप से दूसरो के वास्तविक सुख का मार्ग बनाती वा अवरूद्ध करती है। बहुत से भवक्तो की निस्स्वार्थपरता और उल्लास को कौन कहे, उनके मुख से ही आभा विकीर्ण होती है। उनके सम्मुख होते ही आह्लाद का प्रसार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूर्य की किरणो के स्फुटित होते ही भवन आलोकमय हो जाते हैं। उनके सामने आते ही मनुष्य व्यर्थ प्रलाप, वा आलोचनाओ और निरर्थक निन्दास्तुति के बखानें से विमुख हो जाते हैं।

दुष्ट प्रकृतियो की असुन्दरता उनका विलोम देखने से स्पष्ट हो सकती है। साधु पुरुष के ससर्ग मे अल्पकाल रहने पर भी दुष्ट प्रकृति का दमन होता दिखाई पडता है। गोस्वामी तुलसीदास

ने सज्जन पुरुषो के समागम का उत्कट प्रभाव कई स्थानो पर उल्लिखित किया है, यथा.—

सठ सुधरहिं सतसगति पाई, पारस परसि कुघातु सोहाई।

(सत्सग को पाकर दुष्ट सुधर जाते हैं जैसे पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है।)

गोस्वामी जी ने दूसरे स्थान पर फिर लिखा है:—

धूमउ तजइ सहज करुआई, अगरु प्रसग सुगंध बसाई।

(अगर की सुगधि से धुआं भी अपना स्वाभाविक कडुआपन छोड़ देता है।)

चाणक्य नीति मे लिखा है कि—

सत्संगाद्भवति हि साधुता खलाना

अर्थात् सत्संग से दुर्जनो मे साधुता आ ही जाती है।

भर्तृ हरि ने तो सत्संग की महिमा बहुत ही अपूर्व बताई है। उन्होने नीति शतक मे कहा है.—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेत. प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिं
सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम्॥

"हृदय की जड़ता हरती, सच्ची बात मुँह से निकलवाती, भाव बढ़ाती और चित्त से पाप दूर करती है। चित्त को प्रसन्न करती, दिशाओ मे कीर्ति फैलाती है! भला कहो सत्सगति मनुष्यों का क्या नही करती।"

इसी लिए चाणक्य नीति मे लिखा है कि

ससारकूटवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे ।
सुभाषितं च सुस्वादु संगतिः सज्जने जने ॥

"ससार रूप कडवे वृक्ष के दो ही अमृत तुल्य फल हैं, रसीला प्रिय वचन और सज्जन के साथ सत्सगति ॥"

उदार वृत्ति अनदेखे ही आती है। यह ऊँचा बखान नही करती, शानदार दिखलावा नही करती, कोई प्रदर्शन नही करती, प्रत्युत उल्लास विकीर्ण करती है जो सूर्य के प्रकाश की भांति निश्शब्द भी होता है और उदार भी। उसमे दूसरो की भावनाओ को दैवी बनाने और उनको निरर्थक वेदना से वचित कर देने की प्रवीणता होती है।

हम लोगो को प्रतिध्वनि की कहानी पढ़ने को मिलती है जिसमे एक बालक अपनी माता से ऐसे दुष्ट व्यक्ति की शिकायत कर रहा था जो उसके घर के पास कही छिपा था और उसके कहे हुए सभी शब्दो का उग्र रूप से अनुकरण करता था। उसकी माता ने उसे सलाह दी 'कि जाओ और प्रेम पूर्वक बोलो।' तब बालक ने देखा कि उसकी मधुर वाणी और ध्वनि का ठीक उसी प्रकार अनुकरण हो रहा था।

जीवन प्रतिध्वनियो से परिपूर्ण है। दूसरो की बहुत सी बाते जो हमे आघात पहुँचाती और क्रुद्ध करती हैं, वे केवल हम लोगो की मलीन चित्तावस्था का प्रतिबिम्ब मात्र होती हैं,

हमें इस बात का केवल भान नही होता। दूसरे हमको वैसे ही दिखाई पड़ते हैं जैसे हम लोग स्वय होते है।

चित्रकार सामान्यतः चित्रकारी प्रारम्भ करने के पूर्व एक रेखाचित्र खीच लेता है जिसमे पूर्ण चित्र को चित्रित करने के लिए क्रमिक रूप से रंग भरता है। अपने कौशल से वह चित्र का खाका ऐसा बना लेता है कि चित्र पूर्ण होने पर उन रंगो के भरे जाने से चित्र मे सजीवता आती दिखती है। क्रमिक रूप से अनेक रग भरने से चित्र का वह प्रारंभिक खाका सम्पूर्ण शरीर मे उदासी और गभीरता, अथवा सजीवता और भडकीलापन उत्पन्न कर पुन प्रदर्शित होता है।

वृत्ति अन्तर्पट है जो अन्य सत्र को पुट प्रदान करने में सहायक होती है, हम लोग जो कुछ कहते है वा करते है, उस मे अनजाने पुनः प्रकट होती है और हम लोगो की धारणा, विचार और निर्णयो को भी प्रभावित करती है। अतएव हमे अपने मस्तिष्क की आत्मा मे परिष्कृत होने की असीम आवश्यकता है।

८—उद्वेगों का नियमन

मन को विचलित करने वाले इन्द्रिय-विषय काम, क्रोध, मद लोभ आदि मनुष्य के विकट शत्रु हैं। हम यहा पर क्रोध का उदाहरण लेते हैं। क्रोध पर विजय करना एक बड़े विकट और दुर्गम गढ़ पर अधिकार करने के समान है। जो क्रोध को पी सकता है वह किसी रणमत्त योद्धा से भी अधिक पराक्रमी व्यक्ति होता है। जिस प्रकार मल्लयुद्ध वा रण-भूमि मे भारी शरीर के वल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रोध के शमन के लिए प्रवल मानसिक शक्तिकी आवश्यकता होती है।

इसीलिए भगवान बुद्ध का वचन है कि—

यो वे उप्पतितं कोधं रथ भन्त, व धारये।

तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥

"जो चढ़े क्रोध को भ्रमण करते रथ की भांति पकड़ ले, उसे मैं सारथी कहता हू, दूसरे लोग लगाम पकड़ने वाले (मात्र) हैं।"

क्रोध एक उद्वेग है। उद्वेग अनुराग से भिन्न होता है क्योंकि यह लत की अपेक्षा उत्तेजित और व्यग्र उद्गार ही होता है जो कुछ अधिक आकस्मिक और परिवर्तनीय होता है और थोड़े समय के लिए अधिक दुर्दम्य होता है। उद्वेग अन्तरात्मा की उस विशिष्ट प्रगति का नाम है जो अत्यधिक गम्भीरता,

प्रचडता, उग्रता से लक्षित होती है। हम प्राणी के इस पहलू में आश्चर्यजनक प्रतिकूलताएं देखते है। प्रायः हम देखते हैं कि जिन व्यक्तियों मे उच्च कोटि के विश्वास और अनुराग विद्यमान होते है उनके उद्वेग अनियन्त्रित और असंयमित होते है। जिस व्यक्ति मे दया वृत्ति, उच्च आदर्श और उदार भावनाएं हो उसी को क्रोध तथा घृणा तक के द्रुत और उग्र उद्‌गारो से अभिभूत देखा जा सकता है। धार्मिक जगत मे भी चरित्रवान जाने वाले व्यक्तियो मे उद्वेग का प्रचुर प्रकोप देखा जाता है। वे पक्ष-पाती और कठोर दुराग्रह से अभिभूत होते देखे जाते है। उनमे आत्म-निग्रह का अभाव होता है और उद्वेग के क्षणिक उद्‌गार मे वे ऐसी क्षति कर लेते है कि उसकी पूर्ति वर्षों मे भी नही हो पाती। अपनी प्रकृति की बागडोर पर उन्ही का दृढ़ नियन्त्रण नही होता।

उद्वेगो को अधिकांश लोग दुर्दम्य समझते है तथापि वे व्यक्तित्व के अंततम पट मे निहित होते है। और व्यक्तित्व के निर्मायक तत्वो के मुख्य भाग होते हैं। एक लेखक का कहना है कि मानव केवल शक्ति और विश्वास, तथा मेधा और प्रतिभा से ही निर्मित नही होते बल्कि उनमे उनका अपनापन भी मिश्रित होता है, और उद्वेग अपनापन के जीवन के विशिष्ट भाग होते है।

जो व्यक्ति अपने उद्वेगो पर नियंत्रण कर सकते है वे सासारिक ख्याति न प्राप्त करने पर भी भगवान की दृष्टि मे

यशस्वी व्यक्ति है और वे अपने अन्तस्तल के नन्हे साम्राज्य के सिंहासन के अधिकारी होते हैं। बल की लौकिक परिभाषा दूसरी मानी जाती है, बलशाली व्यक्ति वह कहा जाता है जिसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है, जिसमे उद्देश्य की सिद्धि की शक्ति और निरतर अध्यवसाय-परता होती है किन्तु ऐसे व्यक्ति अपने स्वेच्छाचारी आदेशो के सम्मुख सब को झुकाते है, सबको आज्ञानुवर्ती करने के लिए विवश करते है, उनके बच्चे भी आतक के मारे उनके सामने से भाग जाते है किन्तु भगवान इस बात का आदेश देते हैं कि बलवान व्यक्ति वह है जो दूसरो को दबने के लिए विवश करने के स्थान पर स्वय दबता है। यदि कोई उच्च उद्देश्य सम्मुख आ जाय तो वह अपने निर्धारित मार्ग को उसके लिए त्याज्य कर देता है। प्रतिहिंसा और प्रतिकार मे साहस की सच्ची भावना नही होती, प्रत्युत अन्याय सहने और प्रहार के सम्मुख झुक जाने मे होती है। जो युद्ध करने से बचा रहना चाहता है वह कायर नही होता बल्कि वह होता है जो प्रहार का बदला प्रहार से चुकाता है, जिसमे अपने उद्वेगो के सहन करने की पर्याप्त वीरता नही होती, जो अपने साथियो की हँसी सहन नही कर सकता, उपहास का पात्र बनने का बल जिस मे नही होता।

चरित्र की दृढ़ता के लिए दो बातो की आवश्यकता होती है, एक तो इच्छा शक्ति की दृढ़ता, दूसरे आत्म-निग्रह की शक्ति, दृढ़ भावनाएँ हो और उन पर दृढ़ नियंत्रण रखने की शक्ति हो।

बहुत से लोगो को स्वय स्वामी होना चाहिए वहां वे अधिकृत हो जाते हैं। बहुतों ने भारी भारी सेनाओ का सचालन कर उसे अपनी उगलियो पर नचाया है किन्तु वे अपने उद्वेगों पर अधिकर नही रख सकते थे, उनको अपने वशीभूत नही कर सकते थे। इसी लिए भगवान बुद्ध कहते है कि—

यो सहस्स सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तान स वे सङ्गामजुत्तमो॥

"सग्राम मे जो हजारो हजार मनुष्यो को जीत ले, (उससे कही अच्छा) एक अपने को जीतने वाला उत्तम सग्रामजित है।"

उद्वेगो मे उदाहरणार्थ क्रोध को हमने लिया है। यह बहुत ही आसानी से उभड़ता है और उभड़ने पर अत्यत ही उग्र हो जाता है। आंख की लाली मे जल उठता है, उभड़ी नाक की बड़ी तेज़ सांस मे भड़कता है और दात पीसे जाते हुए तथा कसी हुई मुट्ठी मे जोर बांधता है और प्रचड प्रहार करता है। किन्तु सामर्थ्यवान व्यक्ति अपनी आत्मा के पट पर विजय पा लेता है और उसे फिर गुप्त भवन मे वापस कर देता है। भीतर ही सघर्ष चलने लगता है, कुछ क्षण के मौन रहने, चेहरा पीला पड़ने और जीभ सिकुड़ने के अतिरिक्त और कोई इसका लक्षण वाह्य रूप से नही दिखाई पड़ता, किन्तु यह विजय चरित्र पर प्रभाव डालने की दृष्टि से महान होती है। इस कारण बल की माप मनुष्य को विजित करने वाली भावनाओं और उद्वेगो की शक्ति से नही हो सकती, बल्कि उनकी शक्ति से हो सकती

है जिनको वह स्वयं विजित करता है। क्रोध ही मुख्य उद्वेग है। क्रोध ही पाप का मूल माना गया है। वाल्मीकि रामायण मे लिखा है:—

> क्रुद्ध. पाप न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि।
> क्रुद्ध परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥
> वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
> नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित॥

"क्रोधी कौन पाप नही करता, क्रोधी गुरु का भी वध करता है, वह कठोर वचनो से सज्जनो का तिरस्कार करता है। क्रोधी यह नही जानता कि क्या कहना और क्या न कहना चाहिए, उसके लिए न कुछ अकर्तव्य है और न कुछ अकर्तव्य है।"

महाभारत मे लिखा है:—

> क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दु खसचितम्।
> ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते॥

"क्रोध से योगियो का दुख से बटोरा हुआ धर्म नष्ट होता है और धर्म नष्ट होने से इष्ट गति नही होती।"

महाभारत मे ही फिर लिखाः—

> क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामाहि दृष्यते।

"प्राणियो का नाश इस ससार मे क्रोध से देखा जाता है।" महाभारत मे दूसरे स्थान पर क्रोध के विषय मे लिखा है :—

योहि सहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने।
यः पुन पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे।
तस्याऽभावाय भवति क्रोध परमदारुणः।।

"हे सुन्दरी, जो क्रोध को वश करता है, उसका कल्याण होता है, जो सदा क्रोध के वश मे होता है, उसका परम दारुण क्रोध ही नाश का कारण होता है।,

चाणक्य नीति मे तो लिखा है कि:—

क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी।
विद्या कामदुहा धेनु सन्तोषो नन्दनं वनम्॥

"क्रोध यमराज है, तृष्णा वैतरणी नदी है, विद्या कामधेनु गाय है, और सन्तोष नन्दनवन है।"

अत्यंत क्रोध की चाणक्य नीति में और भी निन्दा की गई है। उसमे अन्यत्र लिखा है—

अत्यन्त कोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसगः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥

"अत्यत क्रोध, कटु वचन, दरिद्रता, स्वजनो मे वैर भाव, नीच का संग, कुलहीनो की सेवा, ये चिह्न नरकवासियो के देह मे होते है।"

विष्णु पुराण मे कहा गया है कि:—

मूढानामेष भवति क्रोधो ज्ञानवतां कुतः।

अर्थात "अज्ञानियो को क्रोध होता है, ज्ञानवान को कहां ?"

भगवान कृष्ण ने गीता मे कहा है:—

'क्रोधात्भवति समोहः समोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्र शाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

"क्रोध से मोह होता है। मोह से स्मृति-भ्रम, स्मृति भ्रम से बुद्धि नाश और बुद्धिनाश से उसका नाश हो जाता है।"

एक शिकारी ने एक दिन एक भारी उकाव पक्षी को गोली का शिकार वनाया। जब शिकारी ने अपने शिकार की देख-भाल की तो उसने उकाव का एक चगुल मजबूत फौलाद के एक फदे मे फॅसा पाया जिसमे एक लंबी जंजीर भी लटकती थी। फदे और जजीर पर उकाव के जोर से चोंच मारने के कई निशान वने थे जिससे पता चलता था कि उकाव ने फदे से छूटने का कितना प्रयत्न किया था। वे इतने भारी तो नही थे कि उसका उड़ना असभव कर देते परन्तु उसकी उड़ान काफी कम करने मे वे अवश्य समर्थ हुए थे। इसी कारण उकाव के अधिक न उड़ सकने और थक पड़ने से उसे गोली का आसानी से शिकार वनाया जा सका था।

वहुत से मेधावी और कल्पना-प्रवर तथा ऊँची उडान मे समर्थ सम्भ्रान्त व्यक्ति दूषित उद्वेग वा विषयो के फदे मे फॅस कर आकाश के तारो सदृश उच्च आसन से नीचे घसीटे आकर शत्रु की गोली के शिकार वन जाते हैं।

एक वात ध्यान मे रखने की है। हमे उद्वेगो का दमन करने के स्थान पर उनका नियन्त्रण करना उचित है। कुकृत से वचने के लिए इन्द्रियो और इन्द्रिय-विषयो को निर्जीव करना कायरता है। हम लोगो के उद्वेगो मे उच्चता का तत्व निहित होता है,

वे कुपथगामी होते रहते हैं, उनको सुपथगामी बनाने की आवश्यकता है। उनका लोप करना व्यक्तित्व को क्षति पहुँचाना है। उनका सर्वथा लोप करना तो पाप के साथ पुण्य का भी लोप करना है। जो हमे दूषित करते है, उसका विनाश नही कर देना चाहिए, हमे पाप-लिप्सा से वंचित होना चाहिए, पाप से आख मूदने के स्थान पर पापकर्म का परित्याग करना चाहिए। अग-भग करने से पवित्रता नही प्राप्त हो सकती। अरस्तू ने कहा है, "ऐसा कोई भी महान प्रतिभावान व्यक्ति नही जिसमे कुछ विक्षिप्तता भी न मिली हो और न किसी संतप्त आत्मा के अतिरिक्त दूसरे द्वारा कोई भी महान वा उच्च बात कही जाती है।" मान लीजिए कोई व्यक्ति अपने मे से क्रोध वृत्ति को सर्वथा विलुप्त कर सका है, तो क्या वह पौरुष की उच्चतम शक्तियो मे से एक शक्ति, सेवा के अत्यत उपयोगी अस्त्रो मे से एक अस्त्र तथा नैतिक बल के तत्वो को नही खो देता है? अनेक अवसरो पर महान अत्याचार का प्रतिरोध करने के लिए महापुरुषो को क्या क्रोध से काम नहीं लेना पडता? कामदेव के भस्म करने के लिए देवो के देव शङ्कर जी को भी तीसरा नेत्र खोल कर अपने रोष का प्रभाव दिखाना पड़ा था। पवित्र क्रोध के विना कितने अनर्थ नही रोके जा सकते थे। क्रोध सकटप्रद हो सकता है। किन्तु क्रोध का अभाव तो उससे भी महान् संकटप्रद है। वह मनुष्य को मांस का लोथडा मात्र रह जाने देता है। गीता मे निर्देश है कि:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

"जो शरीर छोड़ने के पहले यहीं काम क्रोध से उत्पन्न हुए वेग सहने को समर्थ होता है, वही योगी और वही सुखी पुरुष है।"

उद्वेग शक्ति के तत्व होते है, उनका पाप के लिए उपयोग किया जाय, वा पुण्य के लिए, केवल उन्हे नियन्त्रित रखने की आवश्यकता है। उद्वेग से भला या बुरा परिणाम निकलवाना उनके नियंत्रण पर निर्भर करता है। जब वे हम पर शासन करते है तो भयानक बात होते हैं और जब हम उन पर शासन करते है तो उत्कृष्ट होते है। एक व्यक्ति ने एक सिंह का बच्चा पाल रक्खा था, वह उसके शब्द वा छड़ी के आदेश का अनुवर्ती था। एक दिन उसने हाथ चाटते चाटते खून का स्वाद पा लिया जिस से उस मे रक्त की प्यास जग उठी। तब उसे गोली का शिकार बनना पड़ा। इसी प्रकार जहां ईंधन नही होता, वहां आग पड़ी पडी बुझ जाती है। ईंधन को पास न आने देने से आग की लपट लुप्त हो जाती है। यदि तुम्हारी अतरात्मा में शत्रु मॅडरा रहा हो तो उसे भूखो मर जाने दो। यदि उसे उर्वर खाद्य मिलेगा, अपने चारो ओर यथेष्ट खाद्य-सामग्री जीवन-निर्वाह के लिए पाएगा तो वह तीव्रगति से परिपल्लवित हो उठेगा, किन्तु हम उसे भूखो रक्खे तो वह पनप कर उठ न सकेगा, वह क्लान्त हो कर लुप्त हो जायगा।

यहां पर चरित्र-सौष्ठव के लिए नितान्त आवश्यक पुरुषत्व

और नारीत्व के विशिष्ट तत्वों को चित्रित करने वाले महान आत्मसंयम के कुछ उदाहरणों को देना समुचित होगा जो प्रदर्शित किए जाने पर नैतिक उत्कृष्टता की भावना से प्रभावित करते हैं।

प्रसिद्ध तत्ववेत्ता और दार्शनिक आइजक न्यूटन ने मन का अद्भुत साम्य प्राप्त कर लिया था और अपने ऊपर अपूर्व नियंत्रण भी रखते थे। एक समय उनका डायमण्ड नाम का पालतू कुत्ता उनके कागज़ पत्रों के पास अकेला बैठा हुआ था। संयोग से कुत्ते ने एक जलती बत्ती उलट दी जिसने एक पल में ही उन सब कागजों को भस्म कर दिया जो अनेक वर्षों के कठिन परिश्रम से तैयार हुए थे और उन में खोज का कार्य लगभग पूरा हो चुका था। उन भस्म कागजों पर एक दृष्टि डालने से ही इस भारी क्षति का अनुमान हो सकता था जिस की पूर्ति करसकना कठिन था। आइज़क न्यूटन ने दीर्घकालीन गवेषणा और मनन से तैयार हुई वैज्ञानिक खोज को राख की ढेर रूप में हुए देखा किन्तु सब प्रकार की उदासी और निराशा की भावना के उद्‌गार को दबा कर उन्होंने केवल इतना कहा, "डायमण्ड, डायमण्ड! तू नहीं जानता कि तूने कितनी दुष्टता की है!"

एक दूसरे व्यक्ति की कहानी इसी प्रकार की है। एक पक्षि-विद्या विशारद ने "अमेरिका के पक्षी" नाम का बृहद् ग्रथ बड़े ही परिश्रम से तैयार किया था, उसके छपाने के पहले एक बड़ी

भारी दुर्घटना हो गई। उन्होने यात्रा पर रहने के कारण एक स्थान पर अपने एक मित्र के यहाँ इस पुस्तक के दो सौ मूलचित्रो को, जो बड़ी ही सावधानी से भिन्न भिन्न रंगो मे रङ्ग कर तैयार किए गए थे, लकड़ी के सन्दूक मे बन्द कर सुरक्षित रूप से रख दिया था। कुछ मास के पश्चात जब उन्होने लौट कर सन्दूक को खोला तो देखा कि चूहो ने उसमे घर बना लिया है और चित्रो को कुतर डाला है। उनमे लगभग हज़ार पक्षियो के चित्र दिए हुए थे। इस विपत्ति का जो प्रभाव पड़ा उससे उसके मस्तिष्क मे तीव्र उत्तेजना होने के परिणाम-स्वरूप कई दिन तक नीद नही आ सकी, किन्तु इसके प्राथमिक आघात की उत्तेजना शान्त होने तक उसने धैर्य-पूर्वक प्रतीक्षा की और फिर अपनी बन्दूक, कापी और पेंसिल लेकर तीन वर्ष का कठिन परिश्रम उठाने के लिए चित्रो को तैयार करने जगल की ओर फिर चला।

ज़ाज़ेफ हेनरी नाम के एक वैज्ञानिक की घटना इसी प्रकार की है। उन्होने बडा परिश्रम और कष्ट उठा कर एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रयोग के लिए अनेक अद्भुत यत्रो को बना कर तैयारी पूरी की। और मेज़ पर प्रयोग के अद्भुत यन्त्रो को ठीक कर रक्खा जो बहुत सूक्ष्म थे और बड़ी कठिनाई से तैयार हो सके थे। उनके घर मे न रहने पर उनकी माता उस स्थान की ओर गई। सयोग से उनके कपड़े का एक सिरा एक यत्र से उलझ पड़ा जिससे प्रयोग के सभी यत्र गिर कर टूट-फूट गए। वे डर के मारे वहाँ से हट गई और श्रीमती हेनरी को वहाँ पर दुर्घटना का

हाल श्रीयुत हेनरी से वताने के लिए छोड़ दिया। इस भयानक काण्ड को सुन कर श्री० हेनरी एक क्षण तो विल्कुल स्तब्ध हो गए, उनकी सांस ही रुक गई किन्तु वे तुरन्त वाहर चले गए मानो सांस लेने गए हो, और पांच ही मिनट बाद प्रसन्न और शान्त मुद्रा बनाए लौट आए। उन्होने अपनी माता से तो कभी कुछ नही कहा, किन्तु अपने एक मित्र से एक बार कहा था कि "पांच मिनट के लिए मैने अपनी माँ को प्यार नहीं किया था।"

इस प्रकार का उद्वेगो का दैवी आत्म-सयम उच्चतम भव्यता और विजय का परिचायक होता है, यह चरित्र की दिव्यता है। विरोधी तत्वो मे साम्य लाने और शत्रुता को दमन करने के लिए मनुष्य को पहले अन्तर्गत तत्वो मे साम्य उपस्थित करना चाहिए और आन्तरिक बैर द्वन्द का दमन करना चाहिए। एक सम्राट से एक बार पूछा गया कि "आप अपने शत्रुओ को दमन क्यो नही करते, उनपर कृपा भाव क्यो दिखाते है?" उसका महान उत्तर यह था कि "क्या मैं अपने शत्रुओ को अपना मित्र वना कर उनकी सख्या कम नही करता?" पतितो का उद्धार करने और पाप के परिष्कार के लिए उद्वेग को श्रमपूर्वक उद्योग के उत्साह मे दैवी वृत्ति की आवश्यकता होती है। अरस्तू ने लिखा है:—"यदि एक लकड़ी एक ओर मुडी हो तो उसे सीधा करने के लिए उसको विपरीत दशा मे जोर से मोड़ने की आवश्यकता होती है।"

५—वाणी का नियमन

बहुत से लोग मनुष्य की विशिष्टता विवेक मे मानते हैं, फिर भी अन्य प्राणियो से मनुष्य को विभिन्न और विशिष्ट बनाने वाला मुख्य गुण कदाचित् उच्चरित वाणी मे हो सकता है। पशु पूर्व-विचार और पश्चात्-विचार करते जान पड़ते हैं, किन्तु वास्तविक उच्चरित वाणी सरीखी कोई क्रिया उनमे नही पाई जाती। बनमानुसो की किटकिटाहट, तोते की रटन मानवी वाणी की तुलना नही कर सकती। वाणी के ही कारण मनुष्य प्राणी-जगत का शिरमौर माना जाता है।

सुन्दर वाणी के सम्बन्ध मे भर्तृहरि ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है:—

केयूराणि न भूषयति पुरुष हारा न चन्द्रोज्ज्वला।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजा.॥
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयंतेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

"मनुष्य की शोभा बाहु मे बिजायठ (केयूर) पहनने से नही और न चद्रमा की तरह उज्ज्वल हार पहनने से है। स्नान, लेप, पुष्प-शृंगार से अथवा केश रचने से भी नहीं। जिसको शुद्ध वाणी हो वही उसकी शोभा है, दूसरे भूषण व्यर्थ हैं, केवल उसकी वाणी ही भूषण है।"

मनुष्य की आत्मा मानो नगर है, मुँह उसका द्वार है, दोनों ओठ किवाड़ हैं, जीभ मानो फाटक है, मनुष्य के विचार और भावनाएं वाणी रूप मे इसी द्वार से वहिंगत होती है। हमारी जीभ बहुत ढीली लटकी रहती है और हमारे अनजाने ही बहुत लपलपाने लगती है, हमारे साथ विश्वासघात कर उतावले और दुष्ट शब्द निकल पडते है, इस कारण नियन्त्रण रखने के लिए प्रहरी की आवश्यता होती है, जो मुंह से निकलते हुए प्रत्येक शब्द को टोक कर देखे कि उसे बाहर निकलने का उचित अधिकार प्राप्त है, और वह हमारा भेद खोलने वाला शत्रु नही है, बल्कि किसी पवित्र कार्य मे सलग्न देवताओ और मनुष्य का सेवक है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि किसी नगर के परकोटे के द्वार से कोई नगर मे वापस आ सकता है किन्तु मानवात्मा के नगर का कोई शब्द द्वार से एक बार बाहर निकल चुकने पर फिर नगर मे वापस नही आ सकता। वे एक बार जब बाहर हो जाते है तो उनका निकलना सदा के लिए होता है, चाहे सुकृत मे लगने के लिए हो या कुकृत के संदेश-वाहक की भाँति इधर उधर भटकने के लिए हो।

प्रश्न यह होता है कि हमारे शब्दो की देख-रेख के लिए ओठों के द्वार पर प्रभु का प्रहरी कौन है। वह अन्तःकरण है। अन्तःकरण देख सकता है कि कही शब्द हमारे ही हितों के प्रति विश्वासघातक और दूसरो के प्रति कुचक्री तो नही हैं। शब्दों की प्रगति दूसरो के कानो तक कितनी शीघ्र होती है और

कितनी जल्दी वे अपने को शत्रु सिद्ध करते है तथा दूसरो को दुष्कर्म मे प्रवृत्त कर देते हैं। हमारी पवित्रता और शान्ति पर भी उनकी प्रतिक्रिया होती है। जीभ की उच्छृंखलता के लिए रहिमन का कथन स्मरण रखने योग्य है—

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गइ सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपाल॥

सर्वप्रथम, वाणी का सयम करने के लिए हमे शब्दो को रोकना चाहिए जो स्वयं अनुचित हो। प्रहरी को देखना चाहिए कि जीभ से निकला हुआ कोई भी शब्द हानिकर न हो। हमारे जीवन का अधिकांश विचार अनुराग, प्रवृत्ति आदि अन्त. स्थित होता है, क्योकि ज्यो ही हमारे मुख से वाणी निकलती है, दूसरे प्रभावित होना प्रारम्भ होते है, अतएव तब केवल यह देखने की बात नही रह जाती कि भगवान वा हम स्वय जीवन को किस रूप मे देखते है, बल्कि हमारे सहजीवी व्यक्तियो द्वारा जीवन किस रूप मे देखा जाता है। सभी पाप हृदय से ही प्रारम्भ होते है किन्तु उनकी प्रथम और सब से स्वाभाविक अभिव्यक्ति वाणी है। इस प्रकार हमारे गर्हित शब्द दुहरे पाप होते है। ये पाप मनुष्य और परमात्मा के विरुद्ध होते है और आत्मा के विरुद्ध भी। क्योकि जिस पाप की अभिव्यक्ति होती है वह व्यक्त करने वाले के ऊपर अधिक गहरा प्रभाव डालते है। शब्द विचार और भावनाओं की निश्चित रूपरेखा निर्मित करते है

जब हम सोच रहे हो तव हम दूसरो को भुला सकते है किन्तु बोलते समय तो हम समाज मे होते है। अनुचित शब्दो मे मिथ्या की गिनती भी अवश्य ही है। कहा गया है कि

भूठ विना फीकी लगे, अधिक भूठ दुख मौन।
भूठ तिताई बोलिए, ज्यो आंटे मे लौन॥

'विना भूठ बोले वात फीकी लगती है, और अधिक भूठ बोलना दुख का घर है, इसलिए भूठ उतना ही बोलना चाहिए जैसे आंटे मे नमक।" किन्तु यह कथन उचित नही है। यह हो सकता है कि सदा पूर्ण सत्य का कथन कर्तव्य न हो, किन्तु हम जब कभी बोले, केवल सत्य ही बोलें, सत्य को छोड़कर कुछ न बोले। असत्य कभी निष्पाप नही हो सकता। हमे पाप का ग्रहण इसलिए नही करना चाहिए कि उससे पुण्य का उदय हो। युद्ध वा आत्म-रक्षा के लिए छल उचित हो सकता है हम उसके लिए विवाद नही करते, किन्तु भगवान के लोक मे असत्य कभी क्षेमकर नही। अतएव केवल सत्य ही ग्राह्य है उपनिषदो मे बहुत ही स्पष्ट आदेश दिया गया है कि.—

सत्य वद, धर्म चर। सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। सत्य मे प्रमाद न करो। धर्म मे प्रमाद न करो।

सत्य की महिमा सभी धर्मग्रथो ने वर्णित की है वाल्मीकि रामायण मे वर्णित है कि:—

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठित ।
सत्यमेवाक्षया वेदा. सत्येनैवाप्यते परम् ॥

"सत्य ही एक मात्र ब्रह्म है, सत्य ही मे धर्म स्थिर है, सत्य ही अक्षय वेद है, और सत्य ही से परमात्मा मिलता है।"

वाल्मीकि रामायण मे अन्यत्र लिखा है:—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्म. सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परम्पदम् ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परंगच्छति चाक्षयम् ॥

"सत्य ही ईश्वर है, सत्य ही इस लोक मे सदाचारियों का धर्म है, सत्य ही संसार का मूल है, और सत्य के सिवा अन्य परमपद नही है। ऋषि और देवता सत्य ही को मानते हैं, सत्यवादी ही इस लोक मे परम अक्षर पद पाते हैं।"

मुण्डकोपनिषद् मे कहा है:—

सत्यमेव जयते नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान· ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परम निधानम् ॥

"सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं, सत्य से वह मार्ग फैला है जो "देवताओ का मार्ग है जिससे ऋषि लोग, जो कामनाओ से परे हैं, वहाँ पहुँचते है जहाँ सत्य का परम निधि है।"

महाभारत मे कहा है·—

यत सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यत ।
ततो भवति गोविन्दो यत· कृष्णस्ततो जय ॥

"जहां सत्य है वहाँ धर्म हैं, जहां लज्जा और सरलता हैं वहा गोविन्द हैं, और जहां कृष्ण है वहीं विजय है।"

भर्तृहरि शतक मे वर्णित है —

लोभश्चेदगुणेन कि पिशुनता यद्यस्ति किं पातकै ।
सत्य चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ॥
सौजन्यं यदि किं बलेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनै ।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥

"यदि मन में लोभ है तो अवगुण की क्या कमी। यदि परोक्ष मे किसी के दोष कहने की आदत है तो पाप का क्या काम। यदि सत्यता है तो तपस्या क्या होगी। यदि मन शुद्ध है तो तीर्थ से क्या होगा! यदि सुजनता है तो बल का क्या काम! यदि बड़ाई है तो भूषण से क्या! सद्विद्या है तो धन क्या! अपयश है तो मरण क्या!"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस मे लिखा है:-

नहीं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा
सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। वेद पुरान विदित मुनि गाए।

चाणक्य नीति मे लिखा है —

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि ।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

"सत्य से पृथ्वी स्थिर है, सत्य से सूर्य तपते हैं, सत्य ही से वायु बहती है, सब सत्य ही मे स्थिर है।"

अनुचित या गर्हित शब्दो मे अपवित्र शब्द भी सम्मिलित

है । बहुत से लोग ईश्वर की सौगन्ध खाकर बात कहा करते है जो अनुचित है। भगवान मनु का आदेश है कि.—

न वृथा शपथ कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो वुध ।
वृथाहि शपथ कुर्वन्प्रेत्य चेह न नश्यति ॥

"बुद्धिमान मनुष्य थोड़ी सी बात के लिये वृथा शपथ नही करता, क्योकि वृथा शपथ करने वाले के इह लोक और परलोक दोनो बिगड़ते है।" पवित्रता का यह भी अर्थ नही कि वह कृत्रिमता युक्त हो जिसमे सतर्कता और अत्यधिक सुन्दरता का समावेश किया गया हो जो कभी कभी अपवित्र कल्पना प्रकट करती है। जब विचार निर्मल हो तो सरल शब्द कोई गर्हित भाव नही प्रकट कर सकते। वास्तविक निर्मलता सरलता मे ही निहित होती है, निष्कपटता उसका वसन है। पाप लज्जा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार सरल वाणी से बचने की अत्यधिक चिन्ता कभी कभी दूषित कल्पना का लक्षण होती है। लोग अपवित्र परिहास और अश्लील कहानियो के लिए क्षमा मांग लिया करते हैं क्योकि लोगो को हास्य ही वांछनीय होता है किन्तु ये औचित्य की सीमा उल्लघन कर जाती है और नैतिकता को भग करती हैं। आत्मरजन के लिए वाणी मे अपवित्र अस्थिरता की वृद्धि होती है। यह द्व्यर्थक बन जाती है जो स्वय अनुचित नही होती और नैतिक दृष्टि को धुधला करती है।

विनोद के लिए लोगो को कहानियां सुनाने का स्वभाव होता

है। हास्य की उत्कठा से लोग उसमे असगत बाते कहने लगते हैं। परिहास के आत्मरजन और स्वाभाविक अस्थिरता से लोग अनौचित्य और अपवित्रता तक उतर जाते है।

अनुचित शब्दो मे उतावली के शब्द भी सम्मिलित हैं। मुख के प्रहरी को सभी अनियन्त्रित शब्दो को रोकना चाहिए। मुख के द्वार पर द्वारपाल रखने का पहला काम यह होना चाहिए कि जब मुँह खुला हो तो लबलब शब्द निकलने से रोके। यदि रोक न रक्खी जाय तो क्रोध के शब्द बेरोक मुँह से बाहर जा सकते है। उद्वेग के समय थोड़ी शान्ति रख लेने से, उद्वेग के उभड़े रहने पर भी शब्द मुँह के अन्दर ही रुक सकते हैं। इसी लिए तुलसीदास का कथन है:—

क्रोध न रसना खोलिए, बरु खोलब तरवारि।
सुनत मधुर परनाम हित, बोलब बचन बिचारि॥

इस प्रकार क्रोध की उत्तेजना के समय शान्ति रखने का परिणाम बहुत सुन्दर निकलता है। विद्वानो ने उसकी बड़ी महिमा गाई है। महाभारत मे लिखा है कि:—

यस्तु क्रोध समुत्पन्न प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं त विद्वांसो मन्यन्ते तत्वदर्शिन ॥

"जो पुरुप क्रोध उत्पन्न होने पर उसे विवेक द्वारा अन्दर ही दबा देता है, उसको विद्वान लोग तत्वदर्शी और तेजस्वी मानते है।"

विचार और मनन करने से बहुत से शब्द मुँह से निकलने से रह जाते हैं, और उन्हे इतने समय तक न बाहर आने

दिया जाय जितने मे उनका यथार्थ रूप समझ मे आ जाय तो वह प्राय: उन शब्दो को बाहर निकलने की आज्ञा न मिलने तुल्य होता है। इसी लिए कहा गया है कि बोलने के पूर्व दो बार सोच लेना चाहिए। तुलसीदास ने ठीक कहा है:—

फेट न फूटत बिन कहे, कहे न लागत देर।
बोलब वचन विचारयुत समुझि सुफेर कुफेर॥

कबीर का भी यह अनमोल उपदेश क्या कभी भुलाने योग्य है कि:—

बोली तो अनमोल है, जो कोई जाने बोल।
हृदय तराजू तोल कर, तब मुख बाहर खोल॥

अश्लील और मूर्खता पूर्ण बातो से बचना चाहिए। एक विद्वान का कहना है, "हमे व्यर्थ शब्दो से धोखा खाने से सावधान रहना चाहिए जिनमे सत्य वा वास्तविकता का अभाव होता है। महत उद्देश्य से रहित सभी बातो मे यह आशंका रहती है' यदि वाणी का उपयोग उपदेश, ज्ञान-वृद्धि वा आदेश के लिए कल्याणकारी शब्दो रूप मे न हो तो हमारे द्वारा उनके मिथ्या-लाप और ओछेपन मे उपयुक्त होने की सम्भावना है। पाप के प्रति हमारी 'प्रवृत्तियां विशेष कर वाणी रूप मे फूट पड़ती है जो निरंतर कुकृत की ओर झुकती रहती हैं। विचार-हीन वाणी सरलतया असावधान वाणी बन जाती है और असाव-धान वाणी द्वेषपूर्ण वाणी होती है। सरहेनरी सिडनी ने अपने पुत्र को लिखा था "प्रकृति ने जीभ को दांत, ओठ, और ओठो

के ऊपर भी वाल से आवेष्टित कर रक्खा है, ये उस इन्द्रिय की चचल गति के लिए लगाम है।" कोई भी व्यक्ति जीभ को निश्चिंत रूप से असावधानी से वाणी निकालने के लिए नहीं छोड़ सकता।

अरस्तू ने लिखा है कि "दो कलाएं होती है, एक तो बोलने की, दूसरे जिह्वा को मौन रखने की। कभी कभी कुछ न बोलना ही हमारा कर्तव्य होता है। द्वारपाल को मुखद्वार बन्द रखना चाहिए। यह सुगम कार्य नहीं है। हम वहुत अधिक बोलने के लिए उत्सुक रहते हैं। एक विद्वान का कहना है कि "जो तुम्हारा अत्यत अंतरंग हो उसके लिए भी अपना मुख-द्वार बन्द रक्खो।" यह एक सारगर्भित बात है कि भगवान ने हमे एक हीं मुंह दिया है किन्तु दो आंखें और दो कान दिए हैं मानो उनका यह मंतव्य है कि हम दो बार देख और सुन ले तब एक बार बोले।

कभी कभी अपनी कुछ अनुभूतियां और सूझो को हम कार्यान्वित करने के स्थान पर उनकी चर्चा भर कर लेते हैं हमारा उत्साह केवल शब्दो मे उड़ जाता है। ज्योही कोई उच्च भावना वा उत्तम योजना हमारे मन मे आई कि हम अपने किसी समीपी व्यक्ति से उसका बखान करने के लिए उतावले हो कर उसके पास दौड पड़ते है। एक विद्वान ने लिखा है कि भाप के इजिन मे कभी कभी सीटी देने मे भाप बर्वाद हो जाती है जिसे इंजिन के चलाने मे उसके पिस्टन को परिचालित करने मे प्रयुक्त होना चाहिए था। इस प्रकार होहल्ला तो अधिक हो जाता है और

गति कुछ भी नही। अमेरिका की मिसीसिपी नदी मे बहुत दिनो पहले एक ऐसे जहाज के चलने की बात सुनी जाती है जो इतनी कम शक्ति के भाप के इजिन से चलता था कि जब सीटी दी जाती तो सीटी में भाप निकलने से जहाज चलना ही बद हो जाता था। इसी प्रकार एक ईरान के बादशाह ने एक दार्शनिक से पूछा कि "मुझमे क्या कमी है?" तो उसने उत्तर दिया कि "मौन रहने की कला।" इसी बात को एक जर्मन मुहावरा भी बड़े सुन्दर शब्दो मे व्यक्त करता है कि "वाणी रुपहली होती है किन्तु मौनता सुनहली।" चाणक्य नीति मे भी कहा है.—

मनसा चिन्तितं कार्य्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रेण रक्षयेद्गूढं कार्य्यं चापि नियोजनेत् ॥

"मन से सोचे हुए काम को वाणी द्वारा प्रकट न करे, किन्तु मन्त्रणा से मनन पूर्वक उसको गुप्त रक्खे। और गुप्त ही उसको कार्यान्वित भी करे।"

गीता मे मौन को मानसिक तप कहा है। यथा —

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्चते ॥

"मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, मौन, आत्मसयम, अन्तं करण की शुद्धि इस प्रकार का तप मानसिक तप कहलाता है।"

हमे इससे भी एक पग आगे बढ़ना चाहिए। हमे यह देखना चाहिए कि वाणी के क्रियात्मक और नकारात्मक दोनो पहलू के रूप क्या हैं। हमे केवल अनुचित और हानिकर शब्द से ही

वंचित नहीं रहना चाहिए, वल्कि जिनमे हितकर होने की कोई शक्ति न हो उनसे भी वंचित होना चाहिए। मुँह के संतरी को हमारे शब्दो को अपना उद्देश्य प्रमाणित करने के लिए निश्चय ही विवश करना चाहिए। हमारे शब्द मुँह से ऐसे ही निकलने चाहिए जो मधुर, कल्याणकारक और श्रोता के लिए हितकर तथा हृदयग्राही हो। कठोर वचन से हमे अवश्य वचना चाहिए। मधुर वचन के लिए हमे कुछ अपने पास से व्यय भी नही करना पड़ता, अतएव दूसरे को सहज ही उल्लसित किया जा सके तो मीठी वोली को क्यो न ग्रहण किया जाय। चाणक्य नीति में वड़ा ही सुन्दर लिखा है:—

> प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यति जतवः।
> तस्मात्तदेव वक्तव्य वचने किं दरिद्रता॥

"मधुर वचन के बोलने से सव जीव संतुष्ट होते हैं, इस कारण उसी का वोलना योग्य है, वचन में क्या दरिद्रता?" इतना ही नही, मधुर वचन को पृथ्वी की एक अनमोल वस्तु, अपूर्व रत्न माना है जिसके आगे सभी रत्न हेय हैं। चाणक्य नीति मे अन्यत्र उल्लिखित है —

> पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि अन्नमाप सुभापितम्।
> मूढै: पापाणखण्डेषु रत्नसंख्या विधीयते।

"पृथ्वी मे तीन रत्न है, अन्न, जल और प्रियवचन। पत्थर के टुकड़ो को मूर्खों ने रत्न नाम दे रक्खा है।"

तुलसीदास ने भी लिखा है —

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँओर।
बशीकरण इक मन्त्र है, परिहरु वचन कठोर॥

किसी कवि की यह युक्ति भी कितनी सुन्दर है:—

कोयल काको देत है, कागा कासो लेय।
मीठे वचन सुनाय के, मन सब को हर लेय॥

माधुर्यमय वाणी के लिए वेदो मे भी उपदेश है। अथर्व वेद मे लिखा है:—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुमन्दृशः॥

"हमारा आचरण माधुर्य पूर्ण हो, माधुर्य पूर्ण कार्य मे हम रत हो, माधुर्य पूर्ण हमारी वाणी हो, हमारा सब कुछ माधुर्य पूर्ण हो।"

मधुर के साथ ही हमारी वाणी हितकर भी अवश्य ही होनी चाहिए। गीता मे स्पष्टतया आदेश दिया गया है कि:—

अनुद्वेगकर वाक्य सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

"उद्वेग-हीन, सत्य, प्रिय तथा हितकर वाक्य तथा वेद पाठ का अभ्यास, ये वाचिक तप कहलाते है।'

वाणी के सयम और वाणी का महान् उद्देश्य समझने के लिए गीता का केवल यही एक श्लोक स्मरण रखना उचित है। यदि हम केवल इसी व्रत का अनुसरण कर अपनी जिह्वा को

रोक थाम कर चलें तो हमारे जीवन मे नित्य घटित होने वाले अनेक अवांछित कांडो से छुटकारा मिल सके।

शब्द की उत्पत्ति विचारो का वहन करने के लिए हुई थी, उचित शब्द जोरदार शब्द होते है। वाणी को उन्नति का साधन बनाने के लिए हम पर नैतिक उत्तर-दायित्व है। हमे वाणी का प्रयोग दूसरो की उन्नति और श्रेय के लिए ही करना काहिए। हमे वाणी मे भाषा की भी शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। हमारा शब्द-विन्यास भी ठीक होना चाहिए। गॅवारू वाक्यो को उत्कृष्ट सस्कृति और रुचि के ही विरुद्ध नहीं कहा जा सकता, वे उत्कृष्ट नैतिकता के भी विरुद्ध होते है, क्योकि निम्न और गॅवारू बोली वक्ता को भी अमर्यादित करती है और श्रोता को भी भ्रष्ट करती है। हमे विचारो की प्रभावोत्पादकता के अर्थ में प्रभावोत्पादक अवश्य ही होना चाहिए। एक सच्चा वक्ता कितना प्रभावोत्पादक होता है जो इसलिए नही वक्तृता देता कि उसे कुछ कहना ही चाहिए, वल्कि इसलिए कि बोलने के लिए उसके पास कुछ सामग्री है। ऐसा व्यक्ति जिस अधिकार, शान और शक्ति के साथ बोलता है उससे बढ़ कर कोई राज्याधिकारी भी प्रभाव दिखाता नहीं मिल सकता।

इस प्रकार वार्तालाप मे भी हमे कुछ वात करने योग्य वात ध्यान रखने पर ही श्रोता वात पर ध्यान देने वाले मिलते हैं। कोई सुन्दर उद्देश्य सामने रखकर वार्तालाप करनी चाहिए। इस प्रकार प्रलाप, गपशप, तथा तुच्छ वातें त्याज्य हैं। गोष्ठी मे

वार्तालाप के लिए और विशेष सावधानी की आवश्यकता है, हमे उसमें चर्चा का विषय साहित्य के भण्डार, वैज्ञानिक खोज वा कलात्मक कृतियो को वा नूतन आविष्कारो को बनाना चाहिए।

वाणी के लिए आध्यात्मिक विषय बहुत सुन्दर हैं। आध्यात्मिक विषयो से अधिक भव्य वार्ता का विषय नही। ज्योतिर्विज्ञान की चर्चा मे सृष्टि की अनन्तता देखने को मिलती है। अतएव यह बहुत उत्तम सलाप-सामग्री हो सकता है। धर्म-चर्चा से धर्म का मर्म हृदयङ्गम करना बड़ा सुन्दर है। भगवान बुद्ध ने तो आदेश दिया है कि 'हे भिक्षुओ, आपस मे इकट्ठे होने पर दो बातो मे से एक होनी चाहिए, या तो धार्मिक बातचीत या फिर आर्य-मौन।"

एक राजदरबार की बात सुनी जाती है कि वहां साक्षी वा विचाराधीन व्यक्ति की सब बाते उसके अनजाने एक व्यक्ति पर्दे की आड़ मे बैठ कर लिख लिया करता था, किन्तु सृष्टि के समस्त अगणित पुरुषो की जिह्वा से निकले शब्द तो अखिल विश्वनियता की लेखनी से ही पर्दे के अन्दर लिपिबद्ध किए जा सकते है। और यदि इसी बही से ही हमारे पाप-पुण्यो का लेखा होना है तो हम और आप यमराज के सम्मुख रखने के लिए किस प्रकार का आवेदन-पत्र बना रहे हैं। यह विचार कीजिए कि हम कितनी अधिक बाते निष्प्रयोजन ही करते है! कितने अधिक शब्द गर्व से, ईर्ष्या से, वैमनस्य से, क्रोध से

और घृणा से निरर्थक, मूर्खता-पूर्ण और दुष्टता-पूर्ण बोलते है।

इस प्रकार वाणी के सयम का विविध रूप से हमे उपदेश मिलता है। हमे थोड़े शब्दो, मे वाणी के सयम के लिए अपना अत करण शुद्ध रखना चहिए, विचार, भावना और वृत्तियाँ शुद्ध बनानी चाहिए। यदि हमार हृदय पवित्र रहेगा, उसमे अनुरक्ति और सङ्गति परिपूर्ण होगी तो जीभ द्वारा न तो अहितकर और कलुषित शब्द निकाल सकने की सम्भावना होगी और न उससे हम पर वा दूसरों पर कोई आपत्ति ही आ सकेगी। और न सत्य तथा भगवान के अनुरक्त होने पर हम मे विवेक वा प्रभु-प्रसाद की ही न्यूनता हो सकेगी।

जिनकी जिह्वा असयमित, अपवित्र शब्द उच्चरित करने के लिए किसी प्रलोभन से भ्रष्ट नही होती वे लोग धन्य है।

६–आचार का नियमन

मनुष्य जिस रूप मे जीवन व्यतीत करता है उसी का सार तत्व आचार कहलाता है। यह जीवन के क्रम, व्यवहार वा बर्ताव की व्याख्या करता है। इसकी मुख्य महत्ता दो बातो मे होती है, एक तो यह आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति है, दूसरे यह प्रत्यक्ष उदाहरण है जो दूसरो के सम्मुख अनुसरण करने के लिए रक्खा जाता है।

यह आन्तरिक मनुष्य की अभिव्यक्ति है। जिस सिद्धान्त पर कोई काम होता है उसका भगवान की दृष्टि मे जो मूल्य होता है वही वह सिद्धान्त होता है। अतएव सदाचार, जिसे भगवान देखता है, केवल सच्चरित्रता से ही उत्पन्न हो सकता है, हम सत्कर्म करने से उत्तम नही बनते, बल्कि पहले उत्तम बन जाने पर हम सत्कर्म करते हैं। एक विद्वान ने बहुत ही सत्य और विवेक पूर्वक बात कही है कि "भगवान के साथ हमारा सम्बन्ध उत्कृष्ट नही हो सकता, यदि हमारे सम्बन्ध अन्य मनुष्यो के साथ निकृष्ट हो। जो धर्म अनैतिक होता है वह अधार्मिक होता है और जो नैतिकता अधार्मिक होती है वह अनैतिक होती है।" एक दूसरे विद्वान का कथन है कि "कि इससे बढ़कर घातक कोई आत्म-वचना नही है जो अंत.करण को उच्च भावनाओ की तरग से विभोर किए रहती है, जब कि जीवन भूलुंठित और इन्द्रियासक्त बना रहता है।"

इन्ही वाक्यो के साथ हम अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट के वाक्यो को उद्धृत करने का लोभ सवरण नही कर सकते जिसमे कहा गया है "मै किसी भी व्यक्ति को निर्द्वन्द जीवन का सिद्धान्त न आदेशित करूंगा, वल्कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी महत उद्देश्य के लिए कर्मठ जीवन का उपदेश दूंगा, शिष्टता, निष्कपट व्यवहार, ईमानदारी के वर्ताव का जीवन परिवार, पड़ोसियों और राष्ट्र के प्रति विताने का आदेश करूंगा और इस प्रकार राष्ट्र को सबसे निर्द्वन्द जीवन की शिक्षा न दूंगा प्रत्युत महत्तम जीवन का मार्ग निर्देशित करूंगा।"

मानव-जीवन को ऊँचा उठाने वाले पुनीत आचार की शिक्षा हमारे शास्त्रकारो ने वार 'वार दी है। भगवान मनु ने निर्देश किया है कि:—

वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मन·।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

"वेद, स्मृति, सदाचार और स्वयं अपने को प्रिय मालूम होना, ये ही साक्षात धर्म के चार प्रकार के लक्षण कहे गए हैं।"

फिर सदाचार को ही धर्म का मूल वतलाते हुए मनु भगवान का वचन है कि:—

श्रुतिस्मृत्युदित सम्यङ्निवद्ध स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूल निषेवेत सदाचारमतद्रित॥

"श्रुति और स्मृति मे जो सदाचार कहा गया है, जो अपने कर्म मे सम्पर्क रूप से मिला हुआ है और जो धर्म का मूल है,

आलस्य रहित होकर उस सदाचार का पालन करना चाहिए।"

मनु ने मनुस्मृति मे आचार की महत्ता बार बार बताकर लिखा है कि:—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहु परम् ॥

"मुनियो ने आचार मे इस प्रकार धर्म की गति देख श्रेष्ठ आचार को ही सब तपस्याओ का मूल माना है।"

आचार का और अनाचार का फल मनुस्मृति मे इस प्रकार वर्णित है.—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

"आचार से दीर्घ आयु मिलती है, आचार से आकांक्षित सताने प्राप्त होती है। आचार से अक्षय धन लाभ होता है, आचार से अशुभ लक्षणो का नाश होता है। दुराचार से पुरुष ससार मे निन्दित, सर्वदा दु खी, रोगी, और अल्पायु होता है।"

मनुष्य के श्रेष्ठ आचार का निर्देश भगवान कृष्ण ने गीता में बडे विशद रूप से किया है। गीता के तेरहवे अध्याय म क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के प्रसग मे इसका विस्तृत निदर्शन है। सोलहवे अध्याय मे दैवी सपद का वर्णन भी इस प्रकार का है।

भगवान कृष्ण का वचन है:—

अभयं सत्त्वं सशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दान दमश्चयज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेज क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत ॥

"निर्भयता, हृदय की शुद्धि, ज्ञानयोग मे दृढ़ स्थिति, दान करना इंद्रिय-सयम, यज्ञकर्म, वेद-पाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शांति, पीछे निन्दा न करना, जीवो पर दया करना, लोभ न करना, कोमलता, लज्जा और चचल न होना, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, वैर न करना और अत्यत गर्व न करना, हे अर्जुन दैवी सम्पत्ति मे जन्म वाले को होते है।

इसके विपरीत आसुरी संपद वाले को बतलाते है कि—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च ।
अज्ञान चाभिजातस्य पार्थ सपदमासुरीम ।

"छल गर्व, अहङ्कार, क्रोध, और कड़ुवा वचन बोलहे अर्जुन, आसुरी सम्पत्ति मे जन्मे हुए को होते है।"

आसुरी सम्पत्ति वाले व्यक्तियो का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण मे वर्णित खलों के लक्षण से अधिक सुन्दर नही किया जा सकता। गोस्वामी जी लिखते है:—

खलन्ह हृदय अति ताप विसेखी, जरहिं सदा पर संपति देखी।
जहँ कहुँ निन्दा सुनहि पराई, हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।
काम क्रोध मद लोभ परायन, निर्दय कपटी कुटिल मलायन।
बैरु अकारन सब काहू सो, जो कर हित अनहित ताहू सो।
झूठै लेना झूठै देना, झूठै भोजन झूठ चबेना।
बोलहि मधुर वचन जिमि मोरा, खाहि महा अहि हृदय कठोरा।
लोभइ ओढन लोभइ डासन, शिश्नोदर पर यमपुर त्रासन।
काहू की जो सुनहि बड़ाई, श्वास लेहि जनु जूड़ी आई।
जब काहू की देखहि विपती, सुखी होहि मानहुँ जग नृपती।
स्वारथ रत परिवार विरोधी, लपट काम लोभ अति क्रोधी।

हर द्रोही, पर दार रत, पर धन पर अपवाद।
ते नर पामर पाप मय, देह धरे मनुजाद॥

गीता मे भी इन दुरात्माओ का विशेष परिचय दिया गया है। मुख्य रूप से उनके लिए कहा गया है कि —

प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुरा।
न शौच नापि चाचारो न सत्य तेषु विद्यते॥

"आसुरी लोग कर्तव्य और अकर्तव्य को नही जानते, उनमे न पवित्रता होती है, न आचार और न सत्य।"

महाभारत मे भी आसुरी वृत्ति वालो की चर्चा की गई है—

व्याजेन चरते धर्ममर्थ व्याजेन रोचते।
व्याजेन सिद्धयमानेषु ध र्मेनद्विजसत्तम॥

तत्रैव रमते बुद्धिस्तत पापं चिकीर्षति ।
सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ॥

"वे छल से धर्म करते, छल से धन प्राप्त करते हैं। वे छल से धन के प्राप्त होने पर उसी मे अपनी बुद्धि को लगाते हैं और पण्डित या मित्र के भी समझाने पर पाप ही करना चाहते हैं।"

कुलीनत्वे च रमते दुष्कुलीनान्विकुत्सयन् ।
धनदर्पेण दृप्तश्च दरिद्रान्परिकुत्सयन् ॥
मूर्खा निति परानाह नात्मानं समवेक्षते ।
दोषान्क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति ॥

"हम कुलीन हैं, यह समझकर वे प्रसन्न होते हैं, और नीच कुलवालो का तिरस्कार करते है और हम धनवान हैं यह समझकर निर्धनों का अपमान करते है, मैं पण्डित हूँ, अन्य सब मूढ़ हैं, यह समझकर दूसरों के दोष खोजते हैं और अपने दोष दूर करने की इच्छा नही करते।"

कृष्ण भगवान ऐसे ही व्यक्तियो के लिए कहते हैं कि—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।

"अनेक चिन्ता से भटके हुए, मोह जाल मे फँसे हुए और विषय-भोग मे आसक्त हुए वे अपवित्र नरक मे गिरते हैं।"

इसीलिए कठपनिषद मे निर्देष किया गया है कि—

नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

"जिसका दुराचार बन्द नही होता, जो शांत नही है, जिसका मन वश मे नही है, जिसके मन को धैर्य नहीं है वह ज्ञान से भी भगवान को नही पाता।"

योगवासिष्ठ मे सज्जन का लक्षण इस प्रकार दिया है कि—

लोभमोहरुषां यस्य तनुतानुदिन भवेत्।
यथाशास्त्र विहरति स्वस्य कर्मसु सज्जनः॥

"जिसके लोभ मोह और क्रोध मे प्रति दिन कमी होती जाती है और अपने कर्मो मे जो शास्त्र के अनुकूल विहार करता है वही सज्जन है।"

पुनीत आचरण का आदर्श रखते हुए हमारे स्मृतिकारो ने इस बात की सदा शिक्षा दी है कि हमारी जो कुछ आचार-निष्ठा हो, वह केवल बाह्य वा मौखिक नहीं होनी चाहिए। वह मनसा वाचा, कर्मणा होनी चाहिए। जो बाह्य आचार रक्खा जाय, वही मुह से भी निकले और हृदय मे भी वही हो। केवल मौखिक बाते करने से व्यवहार करना कठिन होता है इस पर कबीर का उपदेश ग्राह्य है:—

कथनी मीठी खांड़सी करनी विष की लोय।
कथनी से करनी करे, तो विष से अमृत होय॥

"बाते बनाना चीनी की भांति मीठा है, किन्तु करना विष की तरह कड़ुवा। यदि करनी दिखावे तो विष भी अमृत हो जाता है।" इस प्रकार केवल मुह से कहने वा मन मे भाव रखने वा सकल्प करने से ही मनुष्य ऊँचा नहीं उठ सकता, उसका

व्यहृत आचरण, जीवन-क्रम वैसा ही होना चाहिए। एक महात्मा के लिए एक विद्वान ने लिखा है कि "उसका उपदेश सुन्दर था, उसके लेख उससे भी सुन्दर थे; किन्तु उसका जीवन इन सबसे श्रेष्ठ था।"

जो व्यक्ति केवल वाह्य धर्मनिष्ठा से भगवत्प्राप्ति करना चाहते है और जिनका अन्तःकरण शुद्ध नही है, उनके लिए एक विद्वान् ने लिखा है! "इस लोक मे हम अपना यथार्थ चरित्र शरीर के आवरण मे भले ही ढके रहे किन्तु जब देहावसान हो जाने पर हमारी अन्तरात्मा पर कोई आवरण नही रह जायगा और वह नैतिक और आध्यात्मिक रूप से कांच की तरह पारदर्शी हो जायगी, तब हमारा यथार्थ रूप दिखाई पड़ेगा।" भगवान बुद्ध ने वाह्य शुद्धि और धर्मनिष्ठा रखने वालो के लिए क्या ही सुन्दर उपदेश दिया है:—

कि ते जटाहि दुम्मेध किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिर परिमज्जसि।

"हे दुर्बुद्धि! जटाओ से तेरा क्या (बनेगा), (और) मृगचर्म पहनने से तेरा क्या? भीतर (दिल) तो तेरा (राग आदि मलोसे) परिपूर्ण है, बाहर क्या धोता है?"

मनुष्य के आचार की कसौटी उसका अतःकरण होता है। मनु भगवान ने कहा है कि —

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मन।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीत तु वर्जयेत॥

"जिस कर्म के करने से अन्तरात्मा को परितोष हो, वह यत्न-पूर्वक करे। इसके विपरीत जो कर्म हो बन्द करे।"

मनुष्य का अन्तःकरण जिस कार्य से सतोष का अनुभव करे वह उसके हृदय के अनुकूल ही होगा। शुद्धाचरण की यह बडी सुन्दर कसौटी मनु ने बताई है।

आचार की श्रेष्ठता के लिए हमे अपने जीवन-क्रम मे जिन गुणो की आवश्यकता है, हम उनकी यहां पर कुछ चर्चा करना उचित समझते है। सर्वप्रथम हमारे जीवन-क्रम मे एक-रूपता होनी चाहिए, समस्त प्राणियो के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। वाल्मीकि रामायण मे लिखा है .—

यदाऽसौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न कांक्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा॥

जब वह सब जीवो से कर्म, मन और वचन से राग द्वेष नहीं करता तब ब्रह्म को प्राप्त होगा।"

श्रेष्ठ आचार के व्यक्ति का अंतःकरण भी शुद्ध होता है। जिस प्रकार नेत्र और कान ज्योति वा शब्द को बोधगम्य करने वाले होते है, उसी प्रकार मन सत्य वा असत्य का ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है। वैसे ही अतःकरण मनुष्य के आचार का नेत्र होता है। कुछ लोग दूसरो की सम्मति की विशेष चिन्ता करते है। वे दूसरो के द्वारा अपनी प्रशसा करवाना चाहते हैं और वे सच्चे और पवित्र आचरण तथा गौरवपूर्ण जीवन-क्रम के उदाहरण स्वरूप कहलाए जाने के आकांक्षी

होते है। बहुत से व्यक्ति वर्तमान समय मे अपने प्रति लोगो की सम्मति की परवा न कर अपने मरने के पश्चात् ससार मे यशस्वी बने रहने की विशेष चिन्ता करते है, किन्तु हमे अपनी ख्याति की अपेक्षा आचरण का बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिए। हमारे अंतःकरण मे किसी भी मानव वा भगवान के प्रति द्रोह का भाव न होना चाहिए। अतःकरण हमारी अंतरात्मा मे भगवान की पुकार होता है, अतएव यह भगवान का आदेश ही होता है। सांसारिक प्रशंसाओ की अपेक्षा उच्च उद्देश्य की हमारी यह आभ्यतरिक चेतना और पवित्र चेष्टा निस्सीम रूपसे बहुत अधिक मूल्यवान होती है।

मंगलाप्रसाद परितोषिक प्राप्तकर्त्ता बा० गगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी पांडित्यपूर्ण पुस्तक 'आस्तिकवाद' मे लिखा हैः—

"हम को सत्पथ पर रखने के लिए सब से पूर्व तो हमारा अन्तःकरण ही है जिसको महर्षि दयानन्द परमात्मा की ओर से उपदेश बताते हैं। वस्तुतः अन्तःकरण कितना बड़ा रक्षक है ? संसार के कितने आदमी इसी अन्त करण के शब्दो को सुनकर कुपथ पर विचलित नही होने पाते। संसार सागर मे तैरते हुए जीवनके लिए यह एक बड़ा भारी ज्योतिस्तम्भ है जिसको देखकर हम पाप रूपी चट्टान पर टकरा न जायॅ। गिरतो का सहारा अन्तः-करण ही है। यदि अन्त करण हमको धर्म अधर्म का उपदेश न करता होता तो हम न जाने कितने बड़े गढ़े मे गिर गए होते ! जिस समय संसार के सभी उपदेष्टा थक जाते है, जब

समस्त प्राकृतिक प्रकाश छिप जाता है, अन्धेरी रात मे, घोर जगल मे मनुष्य का अन्त.करण अपने अतुल प्रकाश द्वारा सन्मार्ग बताता है। यदि हिसाब लगाया जाय तो सौ मे दो चार ही निकलते हैं जो इस प्रकाश को न देख सके, इसके शब्द को न सुन सके। अधिक ऐसे ही हैं जो इसके उपदेशो को सुन कर असत्य मार्ग से हट जाते हैं।" (द्वि० स० पृ० १६१)

विद्वान लेखक ने उसी स्थान पर पापियो पर अन्त करण के प्रभाव का विवेचन करते हुए लिखा है.—

"हे अतःकरण की ज्योति का तिरस्कार करने वालो ! हे इस ससार को पाप पूरित मानने वालो ! क्या तुमने कभी पापियो के निर्बल से निर्बल और दुष्ट से दुष्ट मनुष्य की मनोगति का निरीक्षण किया है ? यदि किया है तो सच बताना कि क्या अत करण उनको कभी पाप से नही बचाता और क्या वह इतने ही पापी होते यदि उनके पास अंतःकरण रूपी अस्त्र न होता ? लोग भूल करते हैं जो समझते हैं कि संसार मे पाप का राज्य है। पापी से पापी मनुष्य भी अपने अधिक समय को पाप मे नही लगाता। जिस पुरुष के दस प्रति शतक काम भी पापमय होने लगते हैं उसके प्रति समस्त ससार की घृणा हो जाती है और उसका जीवित रहना दुस्तर हो जाता है। क्यो ? इसलिए कि सृष्टि बनाई ही इसलिए गई है कि धर्म का प्रचार हो। जो लोग बाग के चारो ओर कांटे की बाढ़ देखकर यह समझ लेते हैं कि यह बाग कांटो से ही भरा है वह कितनी भूल करते हैं ?

अरे मूर्ख प्राणी ! यदि इस ससार मे कांटे हैं भी तो वह तुझे पाप से बचाने के लिए हैं। पाप मे रत करने के लिए नहीं। व्यक्ति या समाज के हृदय मे पाप से इतनी घृणा क्यो है ? क्यो एक पापी को प्रवृत्त होते हुए देखकर भी हम विद्रोह करने लगते हैं ? इसीलिए कि ससार सदाचार का इच्छुक है। सदाचार पर ही उसकी स्थिति है। सदाचार ही सृष्टि-रचना का उद्देश्य है। संसार के समस्त नियम हमको सदाचार की ओर ले जा रहे हैं। यदि ससार मे स्वतन्त्रता है तो वह इसीलिए कि लोग धर्म के मूल्य को पहचान सके। यदि कुछ पाप है भी तो इसलिए कि उससे तुलना करके पुण्य की ज्योति का तत्व भली भाँति प्रकाशित हो सके।" (पृ० १९१, १९२)

सत्याचरण मे सरलता, निष्कपटता भी समाविष्ट होती है। सरलता मे कोई छलकपट, दंभ, पाखड वा अधमता नहीं होती, वह कृत्रिमता-विहीन होती है। सरल आचरण निर्मल होता है, उसमे छल-छद्म कही नहीं होता, वह पवित्र भावना से प्रेरित होता है।

श्रेष्ठ आचरण मे सच्चाई भी ओतप्रोत होनी चाहिये। बहुत सी वस्तुएँ अंधेरे मे सुन्दर दिखाई पड़ती हैं किन्तु प्रकाश मे आने पर उनके छिद्र-दोष प्रकट हो जाते हैं, उनकी कृत्रिम भड़क जाती रहती है। सच्चे आचरण के प्रकाश मे निर्दूषणता ही नही दिखाई पड़ती, बल्कि वह मणियो की गुफा की तरह प्रकाश मे जगमग हो उठता है। प्रकाश से जिस प्रकार मणियो की

आभा विकीर्ण होती है, उसी प्रकार ज्ञान की ज्योति मे आचरण रूप मणि की नई नई आभा प्रस्फुटित हो उठती है।

इन सब बातो को प्राप्त करने के लिए केवल भौतिक बुद्धि से ही काम नही चल सकता, उसके लिए पारमार्थिक बुद्धि भी होनी चाहिए। आस्तिकता और भगवद्भक्ति की सदाचार मे नितान्त आवश्यकता होती है। मनुष्य के हृदय के भगवान मे अनुरक्त हो जाने पर उसके आचरण के भ्रष्ट होने की शका नही रहती।

बा० गगा प्रसाद जी उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'आस्तिकवाद' मे आस्तिकवाद की उपयोगिता पर लिखा है:—

"वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न केवल मस्तिष्क-सबन्धी व्यायाम नही है। यह प्रश्न मनुष्य जाति की उन्नति के मार्ग मे मृत्यु और जीवन का प्रश्न है, इसलिए उपनिषत कहती है:—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति ततेपद संग्रहेण ब्रवीमि॥

कि जिसके पद का गायन वेद करते हैं, जिसकी इच्छा से ही लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते है, वही ईश्वर है। यथार्थ मे जिसका ईश्वर पर विश्वास नही है, जिसके सम्मुख ईश्वर-प्राप्ति जैसा उच्च आदर्श नही है. वह ब्रह्मचर्य जैसा कठिन तपश्चर्या क्यो करेगा ? उसके लिए तो ललनालिङ्गन ही समस्त जीव का उद्देश्य है, यही इसके पुरुषार्थ की इति श्री है।" (पृष्ठ ३३९)

"जो लोग सदाचार के भवन को ईश्वर-अस्तित्व की नीव पर बनाना नही चाहते, अथवा जो इस नीव को खोद डालना चाहते हैं वह सदाचार को एक प्रकार से नीव रहित वना रहे हैं। वह मनुष्य जाति के मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वह नहीं देखते कि ईश्वर-विश्वास ने सदाचार को कहां तक दृढ़ किया है।" (पृ० ३४१)

"वस्तुतः ईश्वर-प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य को सदाचारी रखने के लिए और किसी वस्तु की आवश्यकता नही, सदाचार के जो कुछ नियम वनाए जा सकते हैं वह सब ईश्वर-प्रेम के अन्तर्गत आ जाते हैं। यदि मिल या लाभ-वादियो के कथनानुसार हम इस वात को मान ले कि "अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख" सम्पादन करना ही मनुष्य का कर्तव्य है तो भी इसके लिए ईश्वर-प्रेम से अधिक और क्या साधन हो सकता है? जिसको मुझ से प्रेम है उसको मेरे वच्चों से अवश्य प्रेम होगा। इसी दृष्टान्त के अनुकूल जिसको ईश्वर से प्रेम है उसको मनुष्य मात्र से अवश्य प्रेम होगा, क्योकि वह जानता है कि समस्त प्राणी उसी परम पिता के पुत्र हैं।" (पृ० ३४६)

"ईश्वर-विश्वास मनुष्य को उस समय सत्य मार्ग पर दृढ़ होने के लिए बल देता है जब ससार के अनेक प्रलोभन तथा अनेक भय उसे झूठ बोलने के लिए प्रेरणा करते हैं। ईश्वर-विश्वासी मनुष्य फांसी पाने से भी नही डरता और हर्ष-

पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करता है, क्योकि वह समझता है कि मृत्यु के समय भी ईश्वर का करुणामय हाथ उसके ऊपर है। ईश्वर-विश्वास मनुष्य को सच्चा मार्ग सिखाता है। ईश्वर-विश्वास मनुष्य को दम, शम तथा इन्द्रिय-निग्रह के अभ्यास मे सहायता देता है। ईश्वर-विश्वास उसको पापाचरण से रोकता है। वस्तुत यदि विचार किया जाय तो ईश्वर-विश्वास एक ऐसा पारस मणि है जिसके छूने से ही मनुष्य का जीवन कुछ का कुछ बन जाता है।" (पृ० ३४८)

पहले यह बात कही गई है कि आचरण की महत्ता मुख्यतया दो बातो मे होती है। एक तो वह आंतरिक मनुष्य की अभिव्यक्ति होता है, दूसरे वह दूसरो के सम्मुख उदाहरण होता है। हम प्रभाव की दृष्टि से अपना बाह्य आचरण सुन्दर बनाते है। हम अपने विरुद्ध आन्तरिक भावो के लिए उत्तरदायी नही होते, बल्कि अपने व्यवहारो, कार्यो से उत्पन्न होने वाले परिणामो, प्रभावो के लिए भी कुछ अश मे उत्तरदायी होते है। हमारे चारो ओर अन्य मानव है, उनकी चिन्ता बिल्कुल भुला देने के लिए हमारी उदार वृत्ति नही कह सकती। हम जो कार्य करते है, हमसे दुर्बल, अज्ञानी अन्य प्राणी उन्ही का अनुकरण करने से अपने को रोक नही सकते, हम अपने क्रिया-कलाप की स्वच्छन्दता से इस प्रकार दूसरो के लिए मार्ग मे काटे बो सकते है जो हमारे द्विविधा वा सन्देह को अपने भ्रान्त व्यवहारो के अनुमोदन मे उद्धृत कर सकते है।

हम केवल अपने मे दुर्भावना का अभाव वता कर ही अपने कार्य के अनिवार्य परिणामो के उत्तरदायित्व से दूर नही हो सकते। मान लीजिए रेलवे का कोई इञ्जीनियर अपने उत्तरदायित्व से क्षण भर के लिए अपनो दृष्टि हटा लेता है। कोई रेल की पटरी उखड़ी हुई हो वा रेल की पटरी पर कोई रुकावट पैदा करने वाली भारी चीज पडी हो वा कोई पुल टूट गया हो तो तनिक देर की ही असावधानी से रेल के सभी डव्वे मृत्यु के मुख मे पहुँच सकते है। क्या इजीनियर यह कह कर अपने उत्तर-दायित्व से वच सकता है कि उसकी भावना मनुष्यो का प्राणान्त होने देने की नही थी। ऐसा कभी नही हो सकता। भगवान हमे स्मरण दिलाते है कि हमारा जीवन संसार के अन्य प्राणियो के साथ रहस्यमय रूप से आवद्ध है, इस कारण हमे अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि हमारे उदाहरण का क्या परिणाम निकलता है, और प्रत्येक प्रकार के दुष्कर्म से वञ्चित रहना चाहिए। हमारा हृदय शुद्ध होने पर भी क्या हम अपने आचार के प्रभाव की सुधि भूल सकते है?

भगवान मनु ने कहा है कि हमे अपने पूर्वजो का अनुकरण करना चाहिए, उसमे कुछ दोष नहीं आ सकता। यथा—

येनास्य पितरो याता येन याता' पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

"जिस मार्ग से वापदादा चले हो, उसी अच्छे मार्ग से

आप भी चले, उस मार्ग से चलने पर दोषभागी होना नही पड़ता ।"

गीता मे भी कहा है.—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन. ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

"श्रेष्ट पुरुष जो जो करता है, वैसा ही वैसा दूसरे लोग भी करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है लोग उसी के अनुसार वर्तते हैं ।"

इस प्रकार हमारे श्रेष्ट आचार का संसार के इतर मानवो पर अनवरत प्रभाव पड़ता है, इस वात का ध्यान सतत रख कर हम अपने आचरण को ऊंचा उठाने मे ही सदा प्रवृत्त हो सकते हैं, उसे कभी नीचे नही गिरने दे सकते ।

हमे आचरण का यह प्रभाव देख कर सदा भगवान के अनुरूप ही चलकर उसे पावन बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । भगवान की भक्ति-भावना से हम अनेक भोग विलासो की आसक्ति से दूर हो सकते हैं । हमे उदाहरण का प्रभाव भी कभी न भूलना चाहिए। हमारा चरित्र तो भगवान के ही अनुरूप बनाया जा सकता है, चरित्र का ज्ञाता केवल भगवान ही है किन्तु हमारा उदाहरण तो मनुष्य के अनुरूप होना चाहिये । ससार को यह अधिकार है कि वह सज्जन और दुर्जन मे विभेद करे । धर्म-निष्ठ, पुनीत आचरण के सज्जन व्यक्तियो की श्रेणी मे हमे अपनी गिनती कराने का प्रयत्न करना चाहिए ।

हम लोग बातो को विशेष महत्व देते है किन्तु आचार को यथेष्ट गौरव नही प्रदान करते । मनुष्य अपने पुनीत कार्यो से ही भगवान का गौरव बढ़ाता है। इन से आभा स्फुटित होती है जो भगवान को गौरवान्वित करती है। अपने विचार, अनुराग, वृत्ति, और वाणी का संयम करना हमारा व्यर्थ है यदि हमारा आचार असावधानी-पूर्ण हो ।

७—शील का नियमन

आचार के लिए शील उसी प्रकार है जिस प्रकार स्वर्ण के लिए कान्ति और पुष्प के लि ए सुरभि जो वर्णन करने मे तो दुष्कर होता है किन्तु अनुभव करने मे सुगम। श्रीमद्भागवत मे साधु का जो लक्षण दिया है वह शील का कुछ आभास देता है। यथा:—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रव. शान्ता. साधवः साधुभूषणा॰ ॥

"सहनशील, दयालु, मित्र, शत्रु हीन, शान्त पुण्यात्मा साधु श्रेष्ठ भाव वाले सन्त होते है।"

गीता मे भी भक्त योगी का गुण इसी प्रकार का वर्णित है:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार: समदुःखसुख क्षमी ॥

"भक्तयोगी सब प्राणियो से वैर न रखने वाला, मित्रता व दया भाव पूर्ण, ममता से रहित तथा अहकार से रहित, सुख-दु:ख की प्राप्ति मे सम और क्षमावान रहता है।"

सज्जन पुरुष की प्रशंसा निम्न श्लोक मे कितनी सुन्दर की गई है :—

वदन प्रसाद सदन सदयं हृदयं सुधामुचो वाच ।
करण परोपकरणं येषां केषां ते न वन्द्या ॥

"जिनका मुख सदा प्रफुल्ल रहता है, जिनका हृदय दयार्द्र रहता है, जिनके मुख से अमृत तुल्य वाणी टपकती है, जो नित्य परोपकार किया करते है, ऐसे मनुष्य किनको वन्द्य नही है ?"

महर्षि वाल्मीकि ने सज्जन की सहिष्णु, सर्वप्रिय वृत्ति का सुन्दर वर्णन किया है—

न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कचन।
स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापर ॥

"उसका कोई वैरी नही है और न वह किसी से बैर करता है, वह सर्व प्राणियो मे पितामह की तरह श्रेष्ठ है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने भक्तो का चरित्र वर्णन कर शील का सुन्दर आदर्श बतलाया है। रामायण मे उन्होने लिखा है—

कोमल चित दीनन्ह पर दाया,
मन बच क्रम मम भगति अमाया।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी,
भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥

सन्त जनो के हृदय का रूप चित्रित कर गोस्वामी जी ने हृदय की विशालता की सीमा ही पार कर दी है—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवहिं सुसत पुनीता ॥

गोस्वामी जी कहते है कि 'सन्तो का हृदय मक्खन की तरह होता है, इस प्रकार की उपमा कवियो ने दी है, किन्तु उन्हे उपमा

देने नही आई, क्योंकि मक्खन तो अपने उत्ताप (गर्मी) से पिघलता है, किन्तु सज्जनो का हृदय दूसरो के दुख से द्रवित हो जाता है।"

श्री मद्भागवत और गीता के उद्धृत श्लोकों मे जिन गुणो की गणना की गई है उनकी विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नही। हमारे शील मे ऐसे ही गुणों की गिनती है। सहनशीलता सब मनुष्यो मे एकता की भावना उत्पन्न करने का मार्ग बताती है, करुणा सब मानवो मे सहानुभूति, दया का भाव फैला कर सब का प्रेमपात्र बनने का भाव उत्पन्न करती है। मित्रता बन्धुवत् सब प्राणियो को रहने का आदेश देती है और शत्रुता तथा द्वेष के अभाव की वृत्ति बधु-भाव के टूटने की आशंका सर्वथा दूर कर देती है। निरहंकार वा विनम्रता हमारे चरित्र की बहुत ही सुन्दर वृत्ति है जिससे हमारा आचार अत्यंत उज्ज्वल हो जाता है। इन शीलो का रूप संसारी पन्नियो की तरह नहीं है जो चमक दमक तो रखती हो किन्तु उनमे गभीरता वा वजन न हो, बल्कि खरे सिक्के की भाँति दोनो ओर मुद्रित हैं जिन पर एक ओर निष्कपट प्रेम तथा दूसरी ओर निर्मल विनम्रता की छाप है।

ऐसी सहनशक्ति जिस मे अतिकाल मे भी त्रुटि न हो सकती हो, ऐसा प्रेम जिसमे स्पर्द्धा की झलक तक न हो, दंभ का लवलेश न हो, जो तनिक भी गर्वीला न हो, मिथ्याहंकार का जिस पर प्रभाव न हो, जो कभी अपनी सुविधा की खोज नही

करता और न कभी चिड़चिड़ाहट प्रदर्शित करता है वा दूसरे की भावना मे सन्देह करता है तथा सत्य की विजय पर ही आह्लाद प्रगट करना तथा दूसरो की भूल वा हानि पर तनिक भी प्रसन्नता न प्रकट करना, ये सभी शील के उत्तम आदर्श हैं।

वहुत से मनुष्य अन्य विचारो से उच्च होने पर भी शील की दृष्टि से उत्कृष्ट नही होते, हमे व्यक्तित्व का वास्तविक आकर्षण अनुभव करने के लिए वाह्य दोषो और कभी कभी असभ्यता के अन्दर दृष्टि डालना सीखना चाहिए। एक विद्वान का कथन है कि "प्रचुर बुद्धि और कल्पना के साथ ही साथ अत्यधिक नैतिक अधमता भी रह सकती है।" हृदय की विशालता स्वयं ही सार्वभौम सद्गुण है, किन्तु हमे यह स्वीकार करना पड़ता है कि कर्मनिष्ठा और वीरता के साथ ही साथ बहुत अधिक घृणा का भी हृदय मे वास हो सकता है।

शीलो के परिष्कार से आचार की पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। विवेक, सरलता, सच्चाई, सहानुभूति और विनम्रता आदि गुणो युक्त पुरुष का आचार ऐसा हो जाता है कि उसके शत्रु भी उसमे कोई दोष नहीं ढूंढ पाते। मनुष्य पर स्थायी प्रभाव जमाने वाले शील होते हैं। शीलवान व्यक्तियो के ऐसे उदाहरण अनेक मिल सकते हैं जिनके सम्पर्क में आने, समीप उठने बैठने मे लोग वड़े आह्लाद का अनुभव करते है। आधुनिक विज्ञान द्वारा पता चला है कि प्रत्येक व्यक्ति के चारो १० फीट के घेरे

मे उसका प्रभाव-क्षेत्र होता है जिसमे उसके व्यक्तित्व का सूक्ष्म चुम्बकत्व सा प्रभाव रहता है। इस व्यक्तिगत प्रभावक्षेत्र का सूक्ष्म यन्त्रो से अनुभव भी करने मे सफलता मिलती है। इस अन्वेषण से कितनी रहस्यमय बाते प्रकट होती है।

बहुत से व्यक्ति जो निधनता और तुच्छ स्थान मे ऊँचे उठ कर धन और मान प्राप्त करते है उनकी उन्नति का मूल विनम्रता मे पाया जा सकता है। नम्रता सदा दूसरे मे भी नम्रता पुनरुत्पन्न करती है और सदा विनम्र रहने वाला व्यक्ति जितना देगा उतना उसे वापस अवश्य ही मिलेगा। एक विद्वान का कहना है कि "कोई भी व्यक्ति दूसरो के प्रति प्रतिष्ठा का व्यवहार करने से न चूकेगा जो स्वयं अपने प्रति प्रतिष्ठा का कुछ मूल्य समझता है।"

मनु भगवान ने लिखा है:—

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदा।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥

"बहुतेरे राजा अविनयी होने के कारण धन-धान्य, दल-बल सहित नष्ट हो गए और कितने ही पुरुषो ने बनवासी हो कर भी विनय से राज्य पा लिया।"

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥
पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्य चैव गाधिजः॥

"वेन, राजा नहुष, पिजवन का पुत्र सुदा, सुमुख और निमि, ये सब अविनय से नष्ट हो गए। पृथु और मनु ने विनय से राज्य, कुवेर ने धनाधिपत्य और विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व पाया।"

मधुर और शान्त व्यवहार से कट्टर से कट्टर विरोधियो को अपने पक्ष मे करने के कितने दृष्टान्त मिल सकते हैं। जातको मे तो ऐसी कहानियां भरी पड़ी हैं। अङ्गुलिमाल डाकू की कहानी इस प्रकार की प्रसिद्ध कहानी है। एक समय श्रावस्ती के जेतवन मे भगवान गौतम बुद्ध निवास कर रहे थे। उसके समीप ही प्रसेनजित के राज मे डाकू अगुलिमाल ने वड़ा उत्पात मचा रक्खा था। वह वड़ा ही भयानक रक्त-पिपासु डाकू था, सव लोग उससे आतंकित हो उठे थे। ऐसे दुर्दान्त डाकू को वशीभूत करने के लिए भगवान बुद्ध अकेले निहत्थे निकल पड़े। अगुलिमाल के भीषण वासस्थान की ओर जिसने ही बुद्धको अकेले जाते हुए देखा उसीने उन्हे न जाने के लिए वड़ी अनुनय-विनय की और त्रस्त किया कि वड़े वड़े शस्त्रधारी भी अगुलिमाल के हाथ से वचकर नही आते, इसलिए भगवान न जायँ। किन्तु भगवान बुद्ध ने किसी की कोई बात नही सुनी और अंगुलिमाल के निवास की ओर भीषण जंगल मे चलते ही गए। भगवान बुद्ध को अङ्गुलिमाल ने अपने निवास की ओर आते देखा और एक निरस्त्र, दुवले पतले व्यक्ति को उस ओर आने का साहस करते देख वह क्रोधोन्मत्त होउठा।

तीक्ष्ण, घातक तीरो को धनुष पर तान कर वह भगवान बुद्ध की ओर बढ़ने लगा। अङ्गुलिमाल बराबर भगवान बुद्ध की ओर बढ़ता ही जाता, फिर भी वह समीप पहुँचता नहीं मालूम पड़ता था, कुछ ऐसी ही माया हो गई थी। इस पर उसने भगवान बुद्धसे डपटकर कहा कि "सन्यासी, खड़ा रह"। बुद्धने कहा "मै तो खड़ा हूँ अंगुलिमाल, और तू चल रहा है।" अंगुलिमाल समीप न पहुँच सकने का कारण न समझ सका। उसने विस्मय से फिर भगवान बुद्ध को खड़े होने के लिए कहा। इस पर भगवान ने उत्तर दिया कि 'मै खड़ा हूं अगुलिमाल, किन्तु तेरी आंखे हिंसा, लोभ, पाप, असत्य से भरी हुई है, इसलिए तुझे सच्ची बात झूठी मालूम होती है।" अंगुलिमाल ने भगवान बुद्ध के आगे नतमस्तक होकर धनुष बाण फेक दिया। भगवान ने इतने विकट डाकू को सहज ही परास्त कर दिया। अंगुलिमाल भगवान बुद्ध का अनुवर्ती होकर भिक्षु बन गया और आश्रम मे सम्मिलित हो गया। इसी समय जनता के त्राहि त्राहि करने से प्रसेनजित ने पांच सौ घुडसवारो को लेकर अगुलिमाल को परास्त करने के लिए यात्रा प्रारम्भ की और भगवान बुद्ध के निवास के पास ही डेरा डाला। भगवान बुद्ध को प्रसेनजित से यात्रा के उद्देश्य का पता चला तो उन्होने अंगुलिमाल के भिक्षु बन जाने की सूचना दी। भिक्षु अगुलिमाल की स्तुति कर प्रसेनजित साज-बाज सहित राजधानी को लौट गए। एक दिन नगर मे भिक्षा-वृत्ति के लिए घूमते हुए अंगुलिमाल के सिर पर कही

से किसी के फेंकने से कंकड़ आ गिरा और रक्त बहने लगा। रक्त से लथपथ अंगुलिमाल को भगवान बुद्ध ने देखा तो उससे कहा कि "भिक्षु, आज तुम्हारा प्रायश्चित्त पूरा हुआ।" अंगुलि-माल की प्रफुल्लता का ठिकाना न रहा।

शीलो को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, इसका उत्तर हम यही दे सकते हैं कि इतनी सूक्ष्म बात को ग्रहण करना एक प्रकार से कठिन है, फिर भी अन्य उपायो की अपेक्षा अधिक लाभदायक दो तीन मार्ग है जिनसे सर्वोत्तम परिणाम निकल सकते है।

पहला—आचार मे प्रतिहिंसात्मक वा दूसरे को आघात वा चोट पहुंचाने वाली जो बात हो उसका मनन और अभ्यास-पूर्वक दमन करना चाहिए। यह पहला साधन, यद्यपि नकारात्मक है, यह है कि हम अपने आस-पास के व्यक्तियो के सुख और सुविधाओं का अध्ययन करे और स्वेच्छया तथा अभ्यास पूर्वक उन कार्यो से अपने को दूर करे जो दूसरो को दुख वा चोट पहुँचाने वाली हो, और हमारी मडली मे दूसरो को असु-विधा का अनुभव करने वाली हो। इस वृत्ति के शमन और प्रतिकार मे कम उद्योग वा समय की आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्रत्येक सच्चे उद्योग का महान परिणाम निकलेगा और अन्त मे हमे यह देखकर विस्मय होगा कि बहुत सी बातें कितना आघात पहुँचाने वाली रही हैं जिन पर हमारा ध्यान नहीं जाता

था और जो हमारे दृढ़ता पूर्वक प्रतिकार करना प्रारम्भ करने के समय स्वय हम लोगो के लिए आघातक सिद्ध होगी।

दूसरा--दूसरो को सुख प्रदान करने के क्रियात्मक स्वभाव की साधना, जिसके लिए केवल आघात से ही दूर न रहना हो, बल्कि उल्लास, आनन्द सहायता और आशीर्वाद प्रदान किया जाय। हम बहुधा कैसे अनावश्यक रूप से स्पष्टवादी होते है हम अपनी रुग्णता, दुर्बलता, दुर्भाग्य, हानियो, यातनाओ की—दूसरो से केवल बात करने के ख्याल से चर्चा करते है। हमे यह ध्यान नही रहता कि ऐसा करने मे स्वय कोई आश्वासन वा सहायता प्राप्त किए बिना ही उन पर विषाद के बादल उमड़ा रहे है। हमारा बहुत कुछ आलाप और आचार भोग-विलासासक्ति का ही होता है, और इसके लिए दूसरो की चिन्ता कुछ नही रहती। हम अपने को दुख पहुँचाने वाली बात को इतना बढ़ाते है कि दूसरे दुखित हो जाते हैं, उधर साथ ही दूसरी ओर धन्यवाद देने और आनन्द मनाने का जो अवसर होता है उसको व्यक्त करने का भी हम कभी ध्यान नही रखते। हम अनावश्यक रूप से अपनी कठिनाइयो का प्रकाश न कर दूसरो को व्यर्थ ही कष्ट अनुभव करने के लिए विवश करते है। रहीम का यह दोहा ऐसे अवसरो के लिए अप्रासंगिक नही है—

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुन अठिलैहे लोग सब, बाटि न लैहे कोय॥

इसमे केवल इतना परिवर्द्धन कर लेना चाहिए कि हमारी व्यथा सुन कर दूसरे कुढ़ते ही नही, कष्ट का भी अनुभव करते है। यदि हम अपने क्षणिक वा दीर्घ-व्यापी वा स्थायी कष्टों, व्यथाओ के अवसर पर भी इस भावना को मन मे रख कर अपनी वेदना अपने हृदय मे ही दबाए रखने का अभ्यास करे तो हमारी वेदनाएँ बहुत कुछ हल्की हो सकती हैं और उनके द्वारा दूसरे कष्ट का अनुभव करने से भी बच सकते हैं।

भगवान बुद्ध का आदेश भी यही है। उनका तो कथन है कि मुंह बन्द रखने से मनुष्य निर्वाण पा सकता है। धम्मपद मे कहा है —

स चे नेरेसि अत्तान कसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति ॥

"टूटा कांसा जैसे निश्शब्द रहता है (वैसे) यदि तुम अपने को (निःशब्द रक्खो) तो तुमने निर्वाण को पा लिया, तुम्हारे लिए कलह (हिंसा) नहीं रहती।"

अपने आस पास के लोगो से सदा यह पूछते रहना कि कौन सी बातें उनके अनुकूल हैं किन बातों मे उन्हे सुविधा अनुभव हो सकती है, किन बातो से उनके लाभ और सुख की वृद्धि होगी किन बातो से उनके कल्याण की वृद्धि होने की संभावना हो सकती है, इन बातो का स्वभाव बनाना अपने दिव्य शील की साधना के अध्ययन का क्रियात्मक मार्ग है। और जब हम यह देखे कि हँसमुख मुद्रा से कितनी आनन्द-किरणें विकीर्ण होती

है, निस्स्वार्थ सेवा से कितने सुख का प्रसार किया जा सकता है, तो ऐसा जीवन स्वय अपने लिए बड़ा सुन्दर आकर्षण बन सकता है। जब मनुष्य विपत्ति मे हो वा अप्रत्याशित आपदाओ का सामना कर रहे हो तो उस समय उनको दयार्द्र मुख-मुद्रा-सहानुभूति-सूचक शब्द, वा कार्य से सहायता करना कल्याण भावना प्रदर्शित करने के गौण रूप है।

किन्तु हमारे शीलो के परिष्कार मे कोई भी बात इतनी सहायक नही हो सकती जितनी आस्तिकता मे विश्वास तथा प्रभु के रूप का विनती पूर्वक ध्यान करना।

महात्मा नारायण स्वामी ने, 'मनुष्य को आस्तिक क्यो बनना चाहिए ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'आस्तिकवाद' की भूमिका मे लिखा है.—

"इसका उत्तर यह है कि मनुष्य मे सद्गुणो की वृद्धि का इससे बढ़ कर कोई मार्ग ही नही है। उद्देश्य की पूर्ति के लिए आदर्श की जरूरत होती है। यह जगत का सार्वत्रिक नियम है। अच्छे से अच्छे पुरुष को भी यदि हम आदर्श रूप मे रक्खेगे तो भी उसमे अच्छे गुणो के साथ कुछ न कुछ कमियां अवश्य मिलेगी, परन्तु ईश्वर का आदर्श ही एक ऐसा आदर्श है जिसमे कमी और त्रुटियो की गुजाइश ही नहीं है। अच्छे मनुष्य आंशिक आदर्श का काम तो दे सकते है परन्तु पूर्ण आदर्श ईश्वर के सिवा कहीं नही मिल सकता।"

मनुष्य मे आस्तिकता किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है, इसके विषय मे 'आस्तिकवाद' के लेखक ने लिखा है:—

"आस्तिकता 'छू मन्तर' या जादू की लकड़ी से उत्पन्न नही हो जाती। जिस प्रकार शनै शनैः कक्षा-क्रम से पढ़ते पढ़ते ही मनुष्य को गणित भूगोल, तथा अन्य विद्याएँ आती हैं उसी प्रकार ईश्वर-विश्वास भी क्रमश, अभ्यास तथा अध्ययन से आता है। इसके लिए गुरु चाहिए, परिस्थिति चाहिए, और शिष्य का शुद्ध आत्मा चाहिए। ईश्वर-विश्वास आत्मा की उच्च अवस्था का नाम है। हम प्रायः लोगो को ईश्वर-विश्वास की भिन्न भिन्न श्रेणियो मे पाते है। उनमे कुछ कपटी भी है जो चोर की गाउन (चोले) पहन कर ग्रेजुएट (स्नातक) बन गए हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी है जिनमे अभ्यास की कमी है और सामाजिक परिस्थिति का वह सामना नही कर सकते। कुछ ऐसे भी है जो सच्चे गुरु और सच्चे सिद्धान्तो के अभाव की दशा मे कुछ रस्मो या पाखण्डो को ही आस्तिकता समझे हुए हैं। वह पत्थरो को हीरा समझे हुए हैं अतः पत्थर का ही मूल्य उनके हाथ लगता है। हीरे का नही, परन्तु आस्तिकता की उपयोगिता मे किसी प्रकार की कमी नही आती। वस्तुतः उन साधारण आस्तिको के जीवन भी जिनमे हमे इतनी त्रुटियां मिलती हैं अत्यन्त नीच होते यदि उनको आस्तिकता तथा ईश्वर-विश्वास का कुछ भी प्रकाश न मिलता।"

भगवान की भक्ति का फल ही अपार है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे स्वय कहा है.—

क्षिप्र भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति॥

"मेरी भक्ति करने वाला तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति को पाता है, हे अर्जुनन, तू निश्चय जान कि मेरा भक्त नष्ट नही होता।"

भगवान का रूप निदर्शन कराते हुए गीता मे कहा है कि मनुष्य के भावो की उत्पत्ति भगवान से ही होती है:—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयश:।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

"अहिसा, समता सन्तोष, तप दान, कीर्ति अपकीर्त्ति प्राणियो के ये भिन्न भिन्न भाव मुझ से ही होते है।"

अतएव शील की साधना क लिए भगवान की भक्ति ही मनुष्य की सहायक हो सकती है। श्री मद्भागवत मे कहा है कि सर्वासामपि सिद्धीना हेतु पतिरह प्रभु. अर्थात् "सब सिद्धियों का कारण मै ही हूं," अतएव शील की प्राप्ति के लिए अन्यत्र कहां जाया जाय।

धम्मपद मे भगवान बुद्ध का वचन है कि:—

चन्दन तगर वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेस गन्धजातानं सीलगंधो अनुत्तरो॥

"चन्दन या तगर, कमल या जुही इन सभी (की) सुगधों से शील की सुगध उत्तम है।"

अप्पमत्तो अय गन्धो या'य तगरचदनी ।
यो च सीलवत गन्धो वाति देवेसु उत्तमो ॥

'तगर और चन्दन की जो यह गध फैलती है वह अल्प मात्र है और जो यह शीलवानो की गध है (वह) उत्तम (गध) देवताओ मे फैली है।"

धम्मपद मे दु शील और सुशील व्यक्ति की तुलना मे कहा गया है:—

यो च वससत जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाह जीवित सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो ॥

"दु.शील और एकाग्रचित्तना रहित (असमाहित) के सौ वष के जीने से भी शीलवन्त और ध्यानी का एक दिन का, जीवन श्रेष्ठ है।"

दु शील के लिए भगवान बुद्ध का जो आदेश है वह स्मरण रखने योग्य है:—

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डे असञ्ञतो ॥
(श्रेयान् अयोगाला भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिण्डं असयतः ॥

"असंयमी दु शील को राष्ट्र का पिंड (देश का अन्न) खाने से अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है ॥''

जो शील मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने वा गिराने वाली एक मात्र कुजी है, उसकी महिमा का हम क्या बखान कर सकते है, भर्तृहरि ने इसकी स्तुति की है:—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधि. कुल्यायते तत्क्षणात् ।
मेरु स्वल्पशिलायते मृगपति सद्य कुरङ्गायते ॥
व्यालो माल्यगुणायते विषरस पीयूषवर्षायते ।
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतर शील समुन्मीलति ॥

"जिस पुरुष मे शील गुण रहता है उसको अग्नि जल बन जाता है, और समुद्र छोटी नदी बन जाता है, मेरु पहाड उसको धूल कण हो जाता है, तथा सिंह. हरिण हो जाता है, साप माला और विष अमृत सा हो जाता है ।"

इसीलिए भर्तृहरि ने पुन. कहा है कि —

वरं शृङ्गोत्संगाद्गुरुशिखरिण क्वापि विषमे ।
पतित्वाय कायः कठिनदृषदन्ते विगलितः ॥
वर न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्णदशने ।
वर वह्नौ पादस्तदपि न कृत शीलविलय ॥

"ऊँचे पहाड़ के शिखर पर चढ़ कर किसी विषम स्थान से अपने को गिरा कर प्राण दे देना अच्छा है। फिर तेज दांत वाले सांप के मुह मे हाथ डाल देना अच्छा है । या प्रचंड आग मे पड़ कर मर जाना अच्छा है, किन्तु अपना शील छोड़ना उचित नहीं ।"

किसी कवि ने शील की प्रशंसा मे लिखा है कि —

कहते हैं कवि लोग शील भारी भूषण है ।
शील-हीन नर भूमि-भार निज कुलदूषण है ॥
दान मान यश रूप शूरता साहस वाने ।
मोती सम हैं सगुण शील-माला के दाने ॥

८—अध्ययन का नियमन

आधुनिक समय मे पुस्तके सर्वव्यापी हो गई हैं और यह बात कुछ आंशिक रूप से हम लोगो के लिए विपत्ति हो गई है। उनकी सख्या लाखो, करोडो तक पहुँच गई है और उनका भेद-प्रभेद तथा आकर्षण भी उतना ही अधिक है जितनी उनकी संख्या। वे प्रत्येक श्रेणी और युग के लोगो के लिए तैयार होती है और अत्यधिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियो द्वारा लिखी जाती है। वे सस्ते दामो ही प्रत्येक ग्राहक को लभ्य है और जो लोग अत्यधिक निर्धन है वा पुस्तके खरीदने की इच्छा नही रखते उनको विशाल पुस्तकालयो मे मुफ्त पुस्तके मिल सकती हैं।

हम लोगो के ज़माने मे कदाचित कोई भी एक वस्तु इतना प्रभाव नही डालती जितना हम लोगो की पढ़ी हुई सामग्री। पुस्तके स्थायी साथी है जिनसे रात दिन परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सब से बड़ी फदे मे डालने वाली बात यह है कि इस प्रकार की मित्रता गुप्त रूप से प्राप्त की जा सकती है।

हम पुस्तकालय के प्रति बहुत अधिक आदर का भाव रखते हैं। ये पुस्तको के विशाल भडार मृत पुरुषो के यथार्थ समाधि-स्थल है। इन झरोखो से वे हम लोगो पर दृष्टि डालते हैं। यहां पर उनके विचार और भावनाए सुरक्षित है वा अवतरित हुई है। हमारे पुस्तकालय मानव-जाति के लिए शिक्षणालय हैं।

वे भूतकालीन विचारो के संचय-गृह ही नही है, प्रत्युत वर्तमान विचारको के शिक्षक भी है। वे गत युगो के मस्तिष्को की ही लिपि-बद्ध निधि ही सुरक्षित नही रखते, वल्कि आधुनिक युग के मस्तिष्को को भी शिक्षा प्रदान करते है।

किसी व्यक्ति द्वारा संगृहीत पुस्तकालय अधिकतर उसका चरित्र प्रतिभासित करता है, क्योकि यह प्रकट करता है कि उसके साहित्यिक मित्र कौन है और उसकी मानसिक और नैतिक प्रवृत्तियां क्या है। किन्तु पुस्तके केवल वर्तमान चरित्र को ही प्रकट नहीं करती, वल्कि भविष्य का चरित्र भी नियमित करती है क्योकि पाठक लेखक के वहुत निकट सम्पर्क मे आ जाता है। रस्किन ने लिखा है कि "पुस्तके लेखको का सान्निध्य प्राप्त कराती है, वे सभी पाठको के साथ समानता का व्यवहार करती है।" यदि साधारण जीवन मे हम किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति के सम्पर्क मे आना चाहते है तो हमे अनेक वाधाओ का सामना करना पड़ता है, हमारे पास उचित रूप से परिचय कराने वाली कोई वात नही होती, वा उनके घरेलू जीवन मे हमारी पहुँच नहीं हो सकती, वा हम दूरी, सामाजिक पद वा काल द्वारा उनसे पृथक होते हैं। किन्तु उनकी पुस्तको द्वारा हम लोगो मे से प्रत्येक उनसे परिचय प्राप्त कर सकता है और प्रत्येक लेखक के जीवन से अंतरगता प्राप्त कर सकता है उसके मस्तिष्क और हृदय से संलाप कर सकता है। इसी प्रकार साहित्यिक जगत मे कोई सम्भ्रान्त वर्ग नही है। साधारण जीवन मे सम्भ्रान्त वर्ग का

समाज चाहे जिस प्रकार का वर्गभेद प्रचलित कर ले, किन्तु साहित्य प्रजा-सत्तात्मक है, इसमे किसी शर्त वा योग्यता की आवश्यकता नही, केवल पढ़ने की शक्ति भर होनी चाहिए।

पहला नियम यह है जिससे पढ़ने का नियमन किया जाना चाहिये। मुख्य प्रश्न यह है कि—लेखक का चरित्र कैसा है। यदि पुस्तक की लेखिका या लेखक ऐसा व्यक्ति है जिसके साथ व्यक्तिगत मित्रता त्याज्य होनी चाहिये थी, जिसका व्यक्तिगत भाव शोचनीय माना जाता तो उसकी पुस्तक पढ़ने योग्य नहीं, क्योकि लेखक की व्यक्तिगत उपस्थिति न्यूनाधिक पुस्तक मे परिव्याप्त होती है। इस बात मे एक गम्भीर उत्तरदायित्व समाविष्ट है कि पुस्तके अज्ञात रूप से पाठक का लेखक से सान्निध्य करा देती है।

मुद्रण यन्त्र ने प्रत्येक व्यक्ति के लिये पुस्तको को सुलभ कर दिया है। कुछ शताब्दियो पहले तक बहुत प्रसिद्ध विद्यारसिको के पास भी सौ पचास पुस्तके हा हो सकती थीं, आजकल एक एक पुस्तकालय मे लाखों पुस्तकें संगृहीत होती हैं। पाठको को यह मुद्रण यन्त्र की पवित्रता अवश्य ही रक्षित करना चाहिये जिसके लिये वे यह निश्चय करने मे मदद कर सकते है कि किन पुस्तको की खपत अधिक होनी है। क्योकि ग्राहक ही परिणाम स्वरूप, प्रकाशक होते हैं।

अब दूसरा नियम वाचन का नियमन करने के लिए विचारना है। लेखक के चरित्र के विचार से पुस्तक निर्वाचित करने के पूव-

वर्णित सिद्धान्त से दूसरी बात यह उठती है कि हम किन पुस्तको को उन पुस्तको के रूप के विचार से निर्वाचित करेगे। अपने अपने पढ़ने के ऊपर हमे पहला ध्यान यह रखना चाहिए कि पुस्तक नैतिक रूप से विशुद्ध होनी चाहिए। लोगो मे एक बहुत अधिक प्रचलित धारणा है कि हमे अत्यधिक और बिना कोई भेद किए केवल इस दृष्टि से पढ़ना चाहिये कि सस्कृति के विचार से साहित्य का सार्वभौम परिदर्शन किया जाय, किन्तु बहुत सी पुस्तके ऐसी होती हैं जिनका पढ़ना कोई गौरव की बात नही है, बल्कि लज्जा की बात है। प्रत्येक पढ़ी हुई पुस्तक मस्तिष्क मे कुछ तलछट लगभग उसी प्रकार छोड़ जाती है जिस प्रकार कोई नाला प्रायः अपनी तरेटी मे लोहे की लाल धूल, गन्धक के हरे बुरादे वा सोने के पीले कण छोड़ जाता है जो उसके रूप और मार्ग को निदर्शित करते हैं। पढ़ने का सबसे बड़ा लाभ वा हानि उसके पीछे छूटे हुए सुवृत्ति या कुवृत्ति के ये तलछट है। कोई पुस्तक पढ़ने के समय मस्तिष्क मे तलछट की भांति छूटी हुई अधम धारणाओ, घिनौनी तजवीजो और भ्रष्ट स्मृतियो की क्षतिपूर्ति अन्य दिशाओ मे प्राप्त सम्भाव्य लाभो से नही हो सकती। कुछ लोगो की यह भ्रान्त धारणा है कि थोड़ा थोड़ा ज्ञान सब विषयो का और पूर्ण ज्ञान कुछ विषयो का होना चाहिये। इसे बहुत अतिशयोक्ति मानना चाहिए। बहुत से दूषित विषयो और पुस्तको से दूर ही रहना अत्यत आवश्यक है।

इसके बाद हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ऐसी पुस्तको का चुनाव हो जो मानसिक रूप से उत्साहवर्द्धक हो, वे ऐसी हो जो पाठक को ज्ञान, उपदेश और स्फूर्ति प्रदान कर सके। यदि वे इन दोनो बातो मे से कुछ नही कर सकती तो वे निरर्थक है। जब पढ़ने का प्रति दिन नियम किया जाता है तो वह एक प्रबल शिक्षाप्रद शक्ति सिद्ध होता है। फ्रांसिस बेकन ने लिखा है कि "इतिहास पुरुषो को विचारवान बनाते है, कविता उन्हे विनोदपूर्ण बनाती है, गणित सूक्ष्म बनाता है, प्राकृतिक विज्ञान गभीर, दर्शन उदात्त और तर्कशास्त्र तथा वक्तृत्व-कला तार्किक बनाते है। इस कारण विज्ञ पाठक अपनी सनक का अनुगमन नहीं करते, बल्कि पठन से विवेक द्वारा अपना चरित्र गठन और विकास करते है। जो कोई पुस्तक पढ़ने के बाद कुछ मानसिक लाभ नही छोड़ जाती, वह अमर मस्तिष्क द्वारा ध्यान दिए जाने के सर्वथा अयोग्य है।

पठन का सर्वोत्तम लाभ उठाने के लिए हमे लेखक के विचार की अपेक्षा विषय के विचार से पढ़ना चाहिए। और हाथ मे कलम लेकर पढ़ना चाहिए जिससे स्मरण रखने योग्य और बाद मे उल्लेख योग्य बातो पर निशान लगा लिया जाय। यह अच्छा हो सकता है कि पढ़ने के बाद विस्तृत रूप से लिख लिया जाय जिस से पढ़ने का परिणाम क्रमबद्ध और स्थायी हो जाय।

हम संक्षेप मे वह क्रम भी उल्लिखित करने का साहस करते है जो पठन मे अत्यधिक देखा जाता है। इतिहास और

जीवन चरित जो एक प्रकार से इतिहास ही है मानसिक उपलब्धि के आधार हैं, उसके बाद सरल काव्य है, फिर ओजस्वी भाषण, नाटक के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं, फिर उपन्यास जो यदि विशेष ध्यान से चुने हो, और विशेष कर जिन का आधार ऐतिहासिक हो, इतिहास की घटनाओ को आकर्षक पृष्ठभूमि प्रदान कर सकते है। वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथ स्वभावतया ही इस क्रम मे अन्त मे आते हैं क्योकि उनको हृदयगम करने के लिए अत्यधिक पौढ़ बुद्धि की आवश्यकता होती है।

यह जान लेना उचित है कि सावधानी के साथ सयोजित पठन और अध्ययन पुरुषत्व और स्त्रीत्व के विकास मे विस्मयजनक प्रभावोत्पादक हैं। एक विद्वान के सम्मुख एक पिता आया जो अपने निकम्मे पुत्र को किसी योग्य न समझ कर लैटिन भाषा की शिक्षा दिलाना चाहता था। उस विद्वान ने उस व्यक्ति से कहा कि "मैं तुम्हारे पुत्र को लैटिन की शिक्षा इसलिये नही देना चाहता कि वह लैटिन भाषा का क्या करेगा, वल्कि इसलिये कि लैटिन भाषा उसके लिये क्या करेगी।" कभी कभी मनन पूर्वक अध्ययन भाषा के उपयोग और शैली के निर्माण मे अत्यधिक नियमन सिद्ध होता है। कुछ विद्वानो के ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जिसमे से कही का भी कोई अंश, वाक्य या शब्द निकाल दो किन्तु विषय क्रम मे कोई अव्यवस्था नही उत्पन्न होती। कुछ रचनाये इतनी परिष्कृत होती है कि उनमे कही पर एक भी शब्द

के स्थान पर कोई दूसरा अधिक सुन्दर शब्द रखने की गुंजाइश नही होती और न किसी शब्द मे लगा हुआ कोई विशेषण निरर्थक समझ कर निकाला जा सकता है। परिमार्जित भाषा का वे उदाहरण होती है।

बहुत अधिक अध्ययन न करना भी मूल लेखक के विचार से एक उपादेय नियम है। यह विवादास्पद बात हो सकती है। लेखक का यह कथन ठीक है कि अत्यधिक पुस्तको को सरसरी निगाह से देखने और असावधानी से पढ़ने की अपेक्षा थोड़ी पुस्तको का ही पढ़ना किन्तु मनन पूर्वक पढ़ना बहुत अधिक अच्छा है - लेखक ने यह मत भी प्रकट किया है कि एक ही दो पुस्तक का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने वाले कितने ही व्यक्ति हो गये हैं जिनके चरित्र को उनके अत्यधिक सीमित वा एक ही पुस्तक के किन्तु मनन पूर्वक अध्ययन ने निर्मित किया है। उसने उदाहरण भी दिया है कि प्रसिद्ध वक्ता सिसरो के ग्रन्थो ने सर विलियम जोन्स को तथा थ्यूसीडाइड्स के इतिहास ने डेमस्थनीज ऐसे ओजस्वी व्याख्याता को उत्पन्न किया। अन्य कई उदाहरण भी उसने दिये है। उसने एक भारतीय का भी उदाहरण दिया है जिसने अरस्तू की एक पुस्तक का ही अध्ययन किया था, उसका अध्ययन केवल इसी पुस्तक तक सीमित था, किन्तु उसने उसका इतना मनन किया था कि किसी इजलास मे गवाही के समय वह अपने उत्तरो से मुख्य विषय को टालते जाने में इतना कौशल दिखला सका कि वहाँ का कोई भी वकील उसके

सामने टिक कर उसे परास्त न कर सका। बाद मे अरस्तू की एक पुस्तक का अध्ययन करने की बात खुली जो उसके पुस्तकालय मे अकेली ही पुस्तक थी। सेमुअल स्माइल्स ने लिखा है कि "अत्यधिक पठन बुद्धि-विषयक व्यसन मात्र है जिसमे उत्तेजना होती है किन्तु कुछ भंडार-वृद्धि नही।" हमारे भारतीय आचार्यों का मत इस सबन्ध मे पठनीय है।

भगवान बुद्ध का आदेश है कि:—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसहिता।
एक अत्थपद सेय्यो य सुत्वा उपसम्मति ॥

"व्यर्थ के पदो से युक्त सहस्रो काव्यो से भी (वह) सार्थक एक पद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति होती है।"

सहस्समपि च गाथा अनत्थपदसहिता।
एक गाथापद सेय्यो य सुत्वा उपसम्मति ॥
यो च गाथा सत भासे अनत्थपदसहिता।
एक धम्मपद सेय्यु य सुत्वा उपसम्मति ॥

"व्यर्थ के पदो से युक्त हजार गाथाओ से भी एक गाथापद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति होती है। जो व्यर्थ के पदो से सौ गाथाये भी भाषे (उससे) धर्म का एक पद भी श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति होती है।"

चाणक्य नीति मे लिखा है:—

अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूत तदुपासनीयं हसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात ॥

'शास्त्र अनन्त हैं और विद्या बहुत है, समय थोड़ा है और विघ्न बहुत है, अतः जो सार हो उसे प्राप्त करना चाहिए, जैसे हस जल के मध्य से दूध को ले लेता है।'' जो सार हो उसे ग्रहण कर ही पठन जारी रखना उचित है, ह स की भांति जल से दूध निकाल ग्रहण करते जाना ही उचित है। इस दृष्टि को रख कर हमारा अध्ययन सीमित रखना ठीक है किन्तु पुस्तको वा ज्ञान के प्रति ही कम आसक्ति रखना तो बड़ा विकट परिणाम उत्पन्न करने वाला हो सकता है। यदि विज्ञान, पुरातत्व, इतिहास आदि विषयो की ज्ञान-निधि की ही हम उपेक्षा करे, अनवरत अध्ययन और गवेपणा मे सलग्न न रहे तो ससार से वर्तमान ज्ञान का तो लोप ही होता चला जायगा, उसकी वृद्धि की आशा कहां तक की जा सकती है ! अतएव ससार की ज्ञान-वृद्धि मे अनवरत सलग्न विद्वानो, गवेषणा मे सन्नद्ध अन्वेपको के सम्मुख क्या सीमित पुस्तको वा पठन-सामग्रियो के अध्ययन, अनुशीलन की बात कभी आ सकती है ? क्षीर-नीर-विवेक-बुद्धि रख लेने पर हमारे अध्ययन की सीमा कभी भी सीमा के अन्दर नहीं रहनी चाहिए। ज्ञान के महानद की विकराल धाराओ को किनारो के आधीन रखने का क्या कोई मानव साहस कर सकता है !

मूल लेखक के उपन्यास के सबन्ध मे विचार कुछ अतिरंजित नही कहे जा सकते। उनके विचार मे उपन्यास के अत्यधिक पठन मे विशेष अनिष्ट की सभावना है। अधिकांश

उपन्यासों मे कथानक वा कृत्रिम घटना-चक्र के अतिरिक्त कोई मनोहरता नही होती। लेखक विकट घटनाओ के जाल मे पाठक को डाल देता है जो उपन्यास के अन्त मे ही टूटता है। उपन्यास मे चित्रित अधिकांश पात्र उच्च कोटि के नही होते। अनेक उपन्यासों मे उसका आकर्षण कुछ निकृष्ट उद्वेगो को उत्तेजित करने मे ही होता है। जो उद्देश्य प्रतिपादित होते हैं वे भी निम्न कोटि के और अनुकरण करने के अयोग्य होते है। फिर भी यह शोक की बात है सार्वजनिक पुस्तकालयो मे जहां अन्य विषयो की कुछ पुस्तकें होती हैं वहां उनके दुगुने चौगुने उपन्यास ही होते हैं।

उपन्यासो की लोकप्रियता इतनी अधिक है किन्तु वे निश्चित रूप से पूर्ण मानसिक स्वभाव के लिए हानिकर होते हैं। उदाहरणार्थ उपन्यास पढ़ने से एकाग्रशक्ति दूपित होती है। सारा ध्यान यदि कही जाता है तो केवल घटना-चक्र पर और प्राय. ऐसा होता है कि लोग पुस्तक को ऊपर ही उपर देखकर क्रम समझते भर जाने के लिए पन्ने उलटते जाते हैं और वार वार अतिम पृष्ठो को उसका अत जानने के लिए देखते है। इस प्रकार के वाचन मे निश्चय ही स्मरण, विवेचन तथा विश्लेपण शक्ति को उचित्त शिक्षण पाने का अवसर नही रहता। इस मे न तो मानसिक विकास होता है और न नैतिक लाभ। हम जानते हैं कि हमारी चेतावनी बेकार जायगी क्योंकि एक वार उपन्यास पढ़ने की लत पड़ जाने पर वह इतनी तीव्र और दुर्दमनीय हो

जाती है कि फिर छूट नहीं सकती, फिर भी हम चेतावनी का एक शब्द कहदेते है, और सब बातो को भगवान पर छोड़ देते हैं।

साधारणतया उपन्यासो के पढ़ने के सम्बन्ध मे पुस्तक के मूल लेखक के ये विचार ग्राह्य हैं किन्तु श्रेष्ठ उपन्यासो के सबध मे तो ये बाते लागू नही हो सकती। एक तो समय की प्रगति के अनुसार किसी भी भाषा मे उत्कृष्ट उपन्यासो की रचना होने से रह नही सकती जिस पर ये विचार किसी भी प्रकार लागू नही हो सकते, किन्तु ऐसा न भी हो तब भी इतना तो हमे मानना ही पड़ेगा कि उपन्यास अस्त्र की तरह है, उनका प्रयोग चाहे वीरता-प्रदर्शन मे हम करे वा क्रूरता पूर्वक वध, नरसंहार मे। सारा ससार इस बात को मानने से कभी इनकार नही कर सकता कि उपन्यास जीवन का यथार्थ चित्र होने पर क्या नही कर सकता। नवसमाज-निर्माण, भीषण क्रान्ति, नवयुगारम्भ तक उपन्यासो से हो सकते है। ऐसा भी नही है कि ससार के साहित्य मे आज भी ऐसे उपन्यास मौजूद न हो।

मूल लेखक ने बहुसख्यक पत्र-पत्रिकाओ को भी नवयुवको के लिए बहुत हानिकर बताया है। जो बात उपन्यासो के सबध मे कही जा सकती है वही नीरक्षीर-विवेक वाली बात इस संबध मे भी हमे जाननी चाहिए।

पुस्तको की प्रशस्ति के साथ यह अध्याय समाप्त किया जासकता है। बेकन ने लिखा है कि "उत्कृष्ट पुस्तके सच्चा

मित्र होती हैं। वे कभी चाटुकारिता वा पाखंड नहीं करती।
मिल्टन ने लिखा है कि "किसी अच्छी पुस्तक का विध्वंस करना प्रायः किसी मनुष्य को विध्वंस करने के तुल्य ही है। जो किसी मनुष्य का संहार करता है वह एक विवेकी प्राणी, भगवान की प्रतिमा का संहार करता है। किन्तु जो किसी अच्छी पुस्तक का संहार करता है वह विवेक का ही संहार करता है। वह मानो भगवान की प्रतिमा की आँख पर ही आघात कर उसका संहार करता है।"
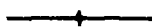
९—विश्वासों का नियमन

सर्वसाधारण मे प्रचलित धारणाओ मे एक यह भी धारणा है कि हम लोग अपने विश्वासो के लिये उत्तरदायी नही है। उसी के साथ एक यह भी धारणा है कि वे महत्वपूर्ण नही होते, मुख्य वात हृदय का सच्चा होना है, और यदि कोई आदमी सच्चा है तो उसके विश्वासो का कोई महत्व नही। इसके सम्बन्ध मे यह स्पष्ट है कि यदि मनुष्य सच्चा है तो यदि उसके विश्वास कुछ महत्व के नही हैं तो सत्य का अनुसंधान आशिक रूप से महत्वहीन हो जाता है और सत्य का शोध कर लेने पर उसका अनुगमन निरर्थक सा हो जाता है, किन्तु ये वाते वेहूदी हैं। सत्य और भ्रान्ति के मध्य सतत अन्तर है और भ्रांति से कभी भी चरित्र और जीवन का सौष्ठव नही उत्पन्न हो सकता जो सत्य प्राप्त करता है।

हमारे विश्वास हमारी मानसिक स्वीकृति होते हैं जो हम बुद्धि द्वारा सत्य स्वीकार करते हैं। जव ये विश्वास नैतिक विषयो से सम्वन्ध रखने वाले होते है तो व नैतिक स्वीकृति से संवध रखने वाले होते हैं और उनके लिए नैतिक अनुसरण, निश्चय और क्रियाशीलता की आवश्यकता होती है उदाहरणार्थ कोई आदमी यह तथ्य स्वीकार कर सकता है कि सूर्य हमसे नौ करोड़ मील दूर है और ऐसा स्वीकार कर लेने

पर वह न तो कुछ अच्छा होता है और न बुरा, किन्तु कोई यह विश्वास करे कि ईश्वर है और आचरण के लिये एक नीति शास्त्र है तो यह आवश्यक होता है कि उसकी इच्छा-शक्ति और अन्तःकरण विश्वास के अनुकूल हो।

अतएव विश्वास का उत्तरदायित्व दो या तीन विभागो के आधीन विचारा जा सकता है (१) मानसिक, (२) नैतिक और (३) इच्छा शक्ति-विषयक। इन बातों के विचार के लिये हम कुछ व्यावहारिक स्वयसिद्ध बातो को इङ्गित करेंगे जो विश्वासो के नियमन का सच्चा मार्ग प्रकट करेंगी।

१—अपने निर्भ्रान्त विश्वास को निश्चित् करना चाहिए। हमे नींव की भाँति पहले कुछ सत्यो की आवश्यकता है जो निर्विवाद हो। अतएव निस्सदिग्ध रूप से अपने प्रारम्भिक सत्यो और तथ्यो को निश्चित करलो जो सदा अपरिवर्तित रह सके। यह अन्य गौण सत्यो के लिये नींव के पत्थर की भाँति होगा। यदि ध्रुव निश्चय केवल एक हो तो उसी को अविचल आधार की भाँति स्थिर कर ले। प्रारम्भिक सत्य ही चरित्र पर अत्यधिक विस्मय-जनक प्रभाव डालते है। बहुत से व्यक्ति ऐसे बने होते है कि वे सरल-तम प्रारम्भिक सत्य ही स्वीकार कर सकते है, किन्तु हम लोगो मे से छोटे बड़े सभी को अन्त मे इन्ही की शरण लेनी पड़ती है।

भगवान ने निर्धारित किया कि इस प्रयोजन के लिए मनुष्य अपने विवेक से काम ले, इसीलिए मनुष्य को सृष्टि के प्रारम्भ मे ही अन्य प्राणियो की अपेक्षा विवेक भी प्रदान किया।

हम इस सृष्टि की रचना मे इतनी अधिक बुद्धि लगी देखते हैं इसलिये यह निश्चित है कि इसका कोई सृजक अवश्य होना चाहिये। जब इसका इतना विस्मयजनक आयोजन हुआ है तो कोई आयोजक अवश्य ही होना चाहिये। एक विद्वान का कथन है कि "कुछ परमाणुओ के एक साथ अपनी इच्छा से गिरने और उससे एक वनस्पति, कीटाणु व सजीव प्राणी की ही उत्पत्ति होने की कल्पना लीजिए।" एक दूसरे विद्वान का कथन है कि "जिस किसी भी वस्तु का अस्तित्व होना प्रारम्भ होता है, उस वस्तु का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। किसी विशेष प्रयोजन के लिये साधनो का सयोग होना बुद्धि की विद्यमानता प्रकट करता है।"

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए,दार्शनिको ने जो तर्क और प्रमाण उपस्थित किए है यहां पर उनका थोड़े मे विवरण देना सभव नही है। ऐसे गहन विषय के ज्ञान के लिए वेदो, उपनिषदो,शास्त्रों तथा अन्य दार्शनिक तथा विवेचनात्मक ग्रंथो का ही अध्ययन करना उचित है। 'आस्तिकवाद' मे इस विषय की बड़े विशद रूप से तर्कपूर्ण मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया है। हम प्रमाणो का उल्लेख न कर कतिपय महर्षियो और विद्वानो के आस्तिकता सबन्धी वाक्य ही उद्धृतकर सतोप करेंगे।

वेदो मे कहा है—

ओ३म्। हिरण्यगर्भ. समवर्तताग्रे,भूतस्य जात. पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

"जो प्रकाश स्वरूप है और जिसने प्रकाशक सूर्य चन्द्रादि उत्पन्न करके धारण किए हैं, जो सम्पूर्ण जगत का स्वामी, एक ही चेतन स्वरूप था, जो सब जगत के उत्पन्न होने से पूर्व भी वर्तमान था, वह इस पृथ्वी, विस्तृत अन्तरिक्ष और द्युलोक को धारण कर रहा है, हम लोग उसी देव की भक्ति किया करें।"

उपनिषदों मे कहा गया है—

क एवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। (तैत्तिरी०)

"कौन गति कर सकता और कौन प्राण धारण कर सकता यदि आकाशवत् व्यापक परमात्मा आनन्द स्वरूप न होता?"

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ०)

"न वहाँ सूर्य चमकता है, न चन्द्र और तारे और न यह बिजलियाँ चमकती हैं, यह अग्नि भला वहाँ कहाँ? उसके ही पीछे और सब चमकते हैं, उसके ही प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है।"

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी।
एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ (मांडूक्य०)

"यह परमात्मा ही सब का अधिपति है, यह ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी है। यह परमेश्वर ही सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति तथा रूप का मुख्य कारण है।"

महर्षि पातंजलि ने योग दर्शन मे लिखा है:—

क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरुप विशेष ईश्वरः तत्र निरतिशय सार्वज्ञ्य बीजम्।

' सब प्रकार के क्लेश, कर्मफल तथा रागद्वेष से सर्वथा शून्य, कोई व्यापक चेतन अवश्य है। उस चेतन विशेष को ही ईश्वर कहना चाहिये, क्योकि उस ईश्वर मे सर्वोपरि सर्वज्ञता विद्यमान है।"

गीता मे कहा है:—

पुरुषः स पर पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
"यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदततम्॥

"हे अर्जुन, वह परम पुरुष जिसके भीतर सब सृष्टि स्थित है और जिससे यह सब जगत व्याप्त है, अनन्य भक्ति से पाने योग्य है।"

भगवान की विभूति बतलाते हुए गीता मे कहा है:—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

"यदि आकाश मे सहस्र सूर्यो का प्रकाश एक साथ उदय हो तो वह उस महापुरुष के प्रकाश के समान हो।"

यूरोप के प्रसिद्ध बुद्धिवादी दार्शनिक डेकार्टे का कथन है:—

"मै अपने हृदय मे ऐसे ईश्वर की भावना ऐसे पदार्थ रूप मे पाता हू जो अनन्त, शाश्वत, अविनाशी, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्व-

शक्तिमान है जिससे मेरी और सब वस्तुओ की रचना और उत्पत्ति हुई है।”

अरस्तू ने लिखा है कि —

“ईश्वर सृष्टि का कारण, गति का मूल है, सर्वप्रथम गति उत्पन्न करने वाला वही है। उसको किसी ने गति नही प्रदान की।”

अफलातून ने घोषित किया है कि —

“सब अल्प सत्ताओ के परे, सब गौण कारणो, नियमो, विचारो और सिद्धान्तो के उस पार एक बुद्धि या ज्ञान (आत्मा) है जो सब नियमो का आदि मूल नियम है, वह परम विचार है जो अन्य विचारो का आधार है। वही सृष्टि का राजा तथा नियता है। वह आदि मूल सत्ता है जिससे सब पदार्थ अपने स्वत्व तथा तत्व को प्राप्त करते है। यह समस्त सगठन, सौन्दर्य, तथा उत्तमता का, जो सृष्टि मे व्यापक है, मूल कारण है। इसी को श्रेष्ठता तथा सर्वोपर्यता के कारण परम उत्तमता या ईश्वर कहते है। यही सबका अधिष्ठाता है।”

इन बातों से ईश्वर की विद्यमानता का विश्वास होता है। जिसने इस ब्रह्माड की रचना की। इसी प्रकार जीव और नैतिक चेतना के सम्बन्ध आदि मे हमारे जो अन्य प्रारम्भिक विश्वास हो सकते हो उनको निश्चित कर लेना चाहिए।

२—अपने विश्वासें को दृढ़ रखना चाहिए। सकल्प-विकल्प मे पड़ा मनुष्य सदा भ्रमजाल मे पडा रहता है। अपने विश्वासें

पर तो विश्वास और सन्देहो पर सन्देह करते रहो। विश्वासो पर सन्देह और सन्देहो पर विश्वास करने की भारी भूल मत करो। लोगो की यह धारणा हो रही है कि हमे प्रत्येक बात पर सन्देह करना चाहिए किन्तु सन्देह करने की अपेक्षा उस पर उस समय तक मौन रहना बहुत अच्छा हो सकता है जब तक कि हम किसी एक निर्णय पर न पहुँच जायँ। एक विद्वान का कहना है कि "यदि सन्देह से अभिभूत होने पर हम सन्देहो का ही अनुगमन करने लग जायँ तो हमारा पतन प्रारम्भ हो जाता है और हमारे सन्देह निश्चित तथ्य हो जाते हैं। किन्तु यदि हम ईश्वर का भरोसा कर उन पर अविश्वास कर चलते है तो वे सन्देह निर्मूल हो जाते है।" धारणाएँ और सम्मतियां परिवर्तनीय होती है, वे मकड़ी के जाले की भाँति सुगमतया ही निर्मित होती है, बड़ी चतुरता से बुनी जाती है और उतनी ही आसानी से टूट भी जाती है। मनुष्य को प्रेरित और सचालित करने वाली शक्ति दृढ़ विश्वास है जो विवेकयुक्त और अटल हो।

भगवान बुद्ध का उपदेश है कि.—

आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठी परम धनं।
विस्सास परमा ञाती निब्बाण परमं सुख॥

"निरोग होना परम लाभ है, सन्तोष परम धन है। विश्वास सब से बड़ा बन्धु है, निर्वाण सब से बड़ा सुख है।"

३—मानसिक विवेकशीलता उत्पन्न करना चाहिए। एक विद्वान का कथन है कि चतुर और विक्षिप्त पुरुप मे यह अन्तर होता है कि चतुर पुरुप तो तथ्यो को अंगीकार कर उसके अनुसार कार्य करता है किन्तु विक्षिप्त व्यक्ति कल्पनाओ को ही स्वीकार कर उनके अनुसार कार्य करता है।" विवेकशीलता दिखाने के कितने ही ढग हैं। उदाहरणार्थ नैतिक समस्याओ के लिए गणित का प्रमाण नही मांगना चाहिए। हम गणित द्वारा यह सिद्ध कर सकते हैं कि दो और दो मिल कर चार होते हैं, वा त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं किन्तु हम गणित द्वारा यह नहीं सिद्ध कर सकते कि सत्य और मिथ्या नैतिक रूप से विभिन्न होते हैं। नैतिक समस्याओं के लिए नैतिक व्याख्या की आवश्यकता होती है। इस कारण वह व्यक्ति मूर्ख है जो नैतिक क्षेत्र में गणित के प्रमाण चाहता है।

४—अपनी सीमितता को स्वीकार करना चाहिए। हमें नम्र होना चाहिए। हमे यह समझना चाहिए कि कोई बात यदि तर्क के परे है तो वह तर्क के विरुद्ध ही नही है, क्योकि वह सत्य होकर भी हमारी तर्क-शक्ति से परे उसी प्रकार हो सकती है जैसे कोई वस्तु हमारी दृष्टि से परे हो, किन्तु हमारी दृष्टि से परे होने पर भी वह विद्यमान हो।

५—मानसिक रूप से ईमानदार बनना चाहिए, मानसिक निष्कपटता विरले लोगो मे ही होती है। एक विद्वान का कथन है कि सच्चे मनुष्य मे सभी सद्गुण होते हैं। पाप की उत्पत्ति

अतिविश्वासी बुद्धि से होती है। शैतान भगवान के बिना बुद्धि की प्रतिमूर्ति होता है और वह असत्यो का जनक होता है। नितान्त मानसिक ईमानदारी अर्थात ऐसी मनुष्यता बहुत दुर्लभ होती है जिसमे सत्य के प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने की सच्ची इच्छा वा सकल्प किसी भी प्रकार अपने प्रति होता है, किन्तु यह लाभप्रद होती है। दृष्टिगोचर पदार्थ बहुत है जो पर्वतो को आवेष्टित करने वाले बादलो वा भाप की भाँति शीघ्र विलीन हो जाते है किन्तु अदृश्यमान पर्वत जो स्वय भव्य होता है मेघ और वाष्प युक्त सहस्रो शताब्दियो के शून्य मे विलुप्त हो जाने के बाद भी इन्द्रासन की भाँति अविचलित रहेगा। जो व्यक्ति सत्य का अनुसधान करता है और उसे पाकर उसे दृढ़ता से ग्रहण कर लेता है, उसके लिए उसे चाहे जो भी कष्ट उठाना पड़े, उसमे शाश्वत का मुख्य तत्व विद्यमान होता है।

६—स्वतत्र बनना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो स्वयं अकेले उठना चाहिए और जनसमूह वा महान कहलाने वाले व्यक्तियो का आँख बन्द कर अनुसरण नही करना चाहिए। हमे दूसरो का अन्धभक्त बनने की आवश्यकता नही। समाज, जाति वा उपदेशको का अन्ध अनुकरण हानिकर हो सकता है। यदि अपने विश्वासो की रक्षा करना हो तो अपनी संगति का नियमन करना चाहिए। सदेह का निराकरण करने की अपेक्षा संदेह उत्पन्न कर देना अधिक सरल होता है। कोई भी

मूर्ख ऐसे प्रश्न कर सकता है जिसका उत्तर कोई विद्वान न दे सकता हो किन्तु कोई भी विद्वान कोई ऐसा प्रश्न नही खड़ा कर सकता जिसका उत्तर देने का प्रयत्न करने के लिए वह कोई मूर्ख तैयार होते न देखे। हमे प्रचलित सदेहो के सूक्ष्म प्रभाव से वचने की आवश्यकता है जो उस हवा मे निहित हो जिसे हम सास लेते है।

इस विपय के मानसिक पहलू की विवेचना सक्षेपतया कर लेने के वाद अब हम इसके नैतिक रूपो पर विचार करना चाहते है। ये मानसिक की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते है क्योकि उनका चरित्र के आधार पर अधिक प्रभाव पड़ता है। हम इसमे भी कुछ युक्तिसगत स्वयसिद्धियो के द्वारा विचारो की धारा प्रदर्शित करेंगे जो अधिकतर गणित की स्वयसिद्धियो की तरह स्वय स्पष्ट होगी।

१—शिक्षणग्राही वनना चाहिए अर्थात् नैतिक विश्वासो को ग्रहण करने मे समर्थ होना चाहिए। शिक्षाग्रहणशीलता एक सर्वोत्तम सफलता है। पूर्ण शिक्षणग्राही वृत्ति नैतिक ईमानदारी के बिल्कुल समान होती है। पक्षपात के कारण अपनी पूर्ण प्रकृति को सत्य से दूर आवद्ध कर रखना सम्भव है जिससे उसमे ऐसी बाधा डाली जाय कि वह चरित्र को प्रभावित करने की यथार्थ सामर्थ्य न रख सके। अरस्तू ने लिखा है कि "सत्य वही है जो कुछ कोई वस्तु स्वयं, अपने संबन्ध मे और उस माध्यम मे होती है जिसके द्वारा वह निरीक्षण की जाती

है" एक दूसरे विद्वान का कथन है कि "सूर्य का प्रकाश अपारदर्शी पदार्थ पर पड़ता है तो उसका केवल ऊपरी तल प्रकाशित करता है और उस वस्तु का अतवर्ती भाग अंधकारमय ही रहता है, किन्तु सूर्यका वही प्रकाश जब पूर्ण पारदर्शी पदार्थ पर पड़ता है तो कोई बाधक पदार्थ न होने के कारण उसके नितान्त अन्तवर्ती भाग मे प्रविष्ट हो जाता है और उसे प्रकाशित करता है।" विश्वास के ग्रहणशील और सत्य के अनुसधान और तत्पश्चात् अनुसरण मे तत्पर मस्तिष्क और हृदय दुर्लभ होते है किन्तु सत्य की सच्ची और पूर्ण स्वीकृति के लिए वे अनिवार्य होते हैं।

शिक्षणग्राही बनने का एक मार्ग अपनी नैतिक सगति का नियमन करना है। हम जैसे होते हैं वैसे ही लोगो की संगति करते है। भले लोगो मे और बुरे लोगो मे सादृश्य होता है। सादृश्य के कारण भले भलो से और बुरे बुरो से मेल जोल करते हैं। इस कारण दोनो वर्ग के आदमी अपनी इच्छा से एकत्र होते है। और अततः स्वर्ग वा नरक की सृष्टि करते हैं। हम अपनी अनेक सम्मतियो को ग्रहण करते है और स्वभावतया ही हमारे साथी भाव और विश्वास, वा संदेह और सत्य का प्रतिकार इगित करते हैं।

२—नैतिक रूप से पवित्र बनो। हृदय शुद्ध रक्खो और अत करण को भगवान वा मनुष्य के प्रति पाप से वचित रक्खो। बुद्धि को उस दशा मे समझाने का प्रयत्न बेकार है जब

कि बाधा का यथार्थ कारण नैतिक प्रकृति मे है। एक व्यक्ति ने एक पापात्मा को उपदेश देने का प्रयत्न किया जो लोभ मे डूबा हुआ था। उपदेश का कुछ प्रभाव न देख उसने एक पट्टी पर भगवान लिखकर पापात्मा को दिखा कर पूछा कि 'क्या तुम इसे देख सकते हो' तो उसने उत्तर दिया 'हां' इस पर उसने ठीक उस शब्द के सामने एक स्वर्ण मुद्रा रख कर पूछा 'कि क्या अब भी इस शब्द को देख सकते हो' तो उसने उत्तर दिया 'नही'। इस पर उसने समझाया कि दृष्टि के सम्मुख लोभ रूप स्वर्ण मुद्रा पड़े रहने से भावना की बात मनुष्य को नही सूझा करती। जहां नैतिक व्यतिक्रम से सन्देह उत्पन्न होता है उसकी दवा नैतिक ही हो सकती है। हृदय का रोग मस्तिष्क की चिकित्सा करने से अच्छा नही हो सकता। इसी प्रकार यदि नेत्र की दृष्टि ही मन्द हो वा रोशनी धु धली हो तो साफ लिखावट भी नही पढ़ी जा सकती। यदि किसी गुप्त नैतिक उद्देश्य वा सत्य का प्रतिकार करना ही है तो उस पर तर्क का कुछ भी प्रभाव नही पड़ सकता। बहुत से ऐसे नर-कीट है जो अधेरे मे ही रहना पसद करते हैं और जब आप कोई सत्य का ढोका पलटते है और अन्दर प्रकाश जाने देते हैं तो वे कीट अपनी बिलो मे भाग जाते हैं।

२—आज्ञाकारी बनो। जहां सत्य की भांति सत्य का निदर्शन करना हो वहां उसका अवश्य अनुसरण करना चाहिए। आज्ञाकारी वृत्ति होने पर कर्तव्य कितना आश्चर्य-जनक रूप से

सुगम बन जाता है। पाप का बोझा लदा होने पर मनुष्य दबा रहता है किन्तु मैल रूप बोझ के हटते ही मनुष्य गुब्बारे की भांति अत्यन्त ऊँचे उठ जाता है।

सत्य को देख कर उसका प्रतिकार करना बडी भयानक बात है। अपनी पीठ को दीवाल से चिपका कर सत्य और ईश्वरीय वृत्ति को प्रतिरोधी की भांति मर्दन करना अक्षम्य अपराध है और कोई भी अन्य वस्तु हृदय को इतना शीघ्र पत्थर नही बनाती।

४—प्रार्थना और स्वाध्याय मे लीन हो। विनयशीलता, पवित्रता, आज्ञाकारिता आदि गुण दैनिक सच्ची प्रार्थना और स्वाध्याय के अतिरिक्त किन्ही अन्य साधनो से प्राप्त नही हो सकते। 'आस्तिकवाद' मे 'ईश्वर-प्राप्ति के साधन' का विचार करते हुए लिखा है—

"स्तुति मे बहुत बड़ी शक्ति है। इसका परिचय एक बात से लग सकता है। हमारे शरीर पर हमारे मस्तिष्क का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। हमारे समस्त कार्य मस्तिष्क से ही आरम्भ होते है। मस्तिष्क मे पहले विचार उठता है, और यह विचार अनेक तन्तुओ द्वारा हमारे अवयवो को कार्य करने के लिए प्रेरणा करता है। भिन्न भिन्न विचार मस्तिष्क के कोष्ठो पर भिन्न भिन्न प्रभाव डालते है। कल्पना करो कि एक कामोत्पादक कथा सुनी जाय या गीतिका गाई जाय तो मस्तिष्क मे एक प्रकार के

काम सम्बन्धी विचार उठेंगे और उन विचारो द्वारा हम कुचेष्टाये करने लगेगे जिनमें मानसिक कुचेष्टाए भी शामिल हैं। परन्तु यदि वीररस के गीत गाये जाय तो उनके गाते ही बाहुओ मे धड़कन उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार जब हम स्तुति करते हैं तो उन गुणो से सम्बन्ध रखने वाले विचार हमारे मस्तिष्क मे उठते हैं और हमारे मस्तिष्क के कोष्ठो की बनावट मे भी परिवर्त्तन हो जाता है। यदि लगातार सच्चे हृदय से उच्च स्वर से प्रार्थना की जाय तो जिस प्रकार के गुणों का उस प्रार्थना मे वर्णन है उसी प्रकार के परिवर्तन हमारे मस्तिष्क मे उत्पन्न होने लगते हैं।"

(द्वि० सं० पृ० ३८५, ३८६)

एक विद्वान ने लिखा है कि --

'ईश-प्रार्थना मनुष्य को पाप से मुक्त कर देती है अथवा पाप मनुष्य को ईश-प्रार्थना से वंचित करने के लिए पाशबद्ध कर लेता है। सतत ईश-प्रार्थना करो, क्योंकि प्रार्थना आत्मा की ढाल और भगवान की आराधना है तथा शैतान की व्याधि है।" यदि हम किसी आधे भरे बोतल को जोर से हिलावें तो उसमे के पदार्थ मे उग्र क्षोभ उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु बोतल के पूरे भरे रहने पर हिलाने पर उसकी वस्तु मे क्षोभ नही होता। इसी प्रकार दैवी वृत्ति मे मग्नता मनुष्य के लिए सन्देह और पाप के लिए ढाल का काम करती है।"

९—सत्य चर्चा का प्रसार करो। ज्योंही तुम्हें नया सत्य मिले उसका प्रसार प्रारम्भ करो। यह सत्य अपने और अन्यों तथा भगवान के प्रति अपनी निष्ठा का परिणाम होना चाहिए। भगवान सत्य को दूसरों पर व्यक्त करने, प्रचारित करने का सदेश देते हैं किन्तु शैतान चुप रहने, भीड़ का अनुसरण करने और अपने ही लिए जीने की सलाह देता है।

—∞—

१०—स्वभाव का नियमन

विचार, भावना, और रुचि के ही दृढ़ होकर स्थायी हो जाने से स्वभाव बनता है। पहले जो 'आकस्मिक' रहता है वही पुनरावृत्तियो द्वारा अभ्यास बन जाता है, कभी कभी वह अनजाने भी अभ्यस्त बन जाता है। इस तरह जो पहले स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, जिसमे हम सलग्न होते हैं, वही बाद मे भला या बुरा स्वभाव बन सकता है। हम प्राय बच्चो मे क्रियाशीलता की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अध्यवसाय के स्वभाव रूप मे परिवर्तित होते देखते है। उनमे कौतूहल की स्वाभाविक प्रवृत्ति को वस्तु उपलब्ध करने का स्वभाव, जिज्ञासा की स्वाभाविक प्रवृत्ति को परिपक्व होकर अनुसधान करने का स्वभाव, अनुकरण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को आदर्श का निर्दोष रूप से अनुगमन करने का स्वभाव, तथा विश्वास की स्वाभाविक प्रवृत्ति को श्रद्धा रखने का स्वभाव हो जाते देखते है। इसके विपरीत चंचलता की स्वाभाविक प्रवृत्ति छिछोरेपन का स्वभाव बन सकती है, और झगड़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति लड़ने का उग्र स्वभाव। अतएव बच्चो मे स्वभाव-निर्माण मे नियत्रण की विशेष आवश्यकता है।

हमने जैसा ऊपर लिखा है, स्वभाव की उत्पत्ति पूर्ण चेतना वा इच्छा शक्ति के प्रत्यक्ष कार्य बिना भी हो सकती है। एक

विद्वान ने, जिसके नाम का कुछ पता नही, बड़ी बुद्धिमानी की एक वात कही है कि "हम विचार का वीज वो कर कार्य पैदा करते हैं। कार्य का वीज वोकर स्वभाव पैदा करते हैं, स्वभाव का वीज वोकर चरित्र पैदा करते हैं और चरित्र का वीज वोकर भाग्य की फसल तैयार करते हैं।"

स्वभाव के नियमन का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान स्वभावतया पहले सव से निकृष्ट वर्ग के स्वभाव की ओर जाता है जो खुले तौर पर और वहुत स्पष्ट रूप से अनैतिक और कलुषित होता हैं किन्तु यह एक सतोप की वात है कि उनकी वहुत चर्चा करने की हमे आवश्यकता नही, क्योकि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि हमारे पाठक उन बुराइयो में फँसे नही हैं। फिर भी उनमे से तीन वहुत ही अधिक प्रमुख हैं मद्यपान, कामवासना और मिथ्या-भाषण।

मद्यपान के सवन्ध मे हमे यही कहना है कि यह वहुत ही आश्चर्य की वात है कि कोई विचारवान मनुष्य इस व्यसन का किस प्रकार दास वन जाता है। एक प्रसिद्ध डाक्टर का चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से कथन है कि "विष प्रयोग से स्वयं संज्ञाहीन वनना और मद्य के नशे मे चूर होना मुझे निर्विघ्न आत्म-चेतनता और अविचल आत्म-निग्रह के विलोम पर्याय जान पड़ते हैं।" एक दूसरे अनुभवी विद्वान ने कहा था कि "मै भगवान से दूर भटकने लगा और मैंने अपने शोको को मद्यपान मे मग्न करने का प्रयत्न किया किन्तु मैं देखता हूँ कि शोक अच्छा

वैराक है और आसानी से डुबोया नहीं जा सकता।" शोक और परितापों के प्रतिकार के लिए मद्यपान करना तो ऐसी औषधि सेवन करने तुल्य है जो रोग से भी अधिक हानिकर हो। धनकुबेर कारनेगी ने कहा था कि "मेरा सर्वोत्तम मादक-निषेध-भाषण उस समय था जब मैंने अपनी एक जागीर में सब प्रकार के मादक द्रव्यों का सर्वथा परित्याग करने वाले सभी श्रमिकों को दस प्रति शत पुरस्कार-वृत्ति देने की घोषणा की।"

मद्यपान को निषिद्ध बताने वाली सबसे बड़ी बात यह है कि वह ऐसा व्यसन है जो विवेक हरण करता है और कुछ समय के लिए उसे अपने स्थान से सर्वथा च्युत कर देता है, अतएव अपनी आत्मा के प्रति इस अपराध के साथ ही अत्यधिक विकट ऐन्द्रिक दंड भी मिलता है, भगवान प्रायः मद्यपान को अंतिम रूप में मनुष्य के अन्तःकरण से विवेक और चेतनता दोनों को अधिकार-च्युत कर लेने देते है। दूसरा कोई भी एक स्वभाव समाज में इतना व्यापक संहार नहीं कर सकता। यदि संसार से मद्यपान का लोप हो जाता तो अपराधों के अधिकांश उसके साथ ही लुप्त हो जाते।

मनुष्य की बुराइयों में मद्यपान के बाद सबसे अधिक व्यापक काम-वासना है। इस सामाजिक कलंक का शमन करने में समाज सर्वथा असमर्थ रहा है। भर्तृहरि ने बड़ी निराशा पूर्वक अपने शृंगार शतक में लिखा है.—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सति धीरा.
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्या:॥

"पृथ्वी पर ऐसे धीर पुरुष है जो मतवाले हाथी के मस्तक को फाड़ सकें। ऐसे भी कुशल जन है जो प्रचंड मृगराज को भी मार सके ? किन्तु मै ललकार कर वलियो के सामने कहता हूँ कि कामदेव के मद को हटाने वाले कोई विरले ही पुरुष होते हैं।"

भगवान बुद्ध का भी वचन है.—

कामतो जायते सोको, कामतो जायते भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं॥

"काम से शोक उत्पन्न होता है, काम से भय उत्पन्न होता है, काम से मुक्त को शोक नही, फिर भय कहाँ ?"

श्री मद्भगवद्गीता मे कृष्ण भगवान ने कहा है कि —

काम एष कोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्माविद्ध्येनमिह वैरिणम्।

"रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह काम, यह क्रोध बडा खाऊ और पापी है, तू इसको यहां बैरी जान॥"

चाणक्य नीति मे भी वर्णित है कि:—

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोह समो रिपु।
नास्ति कोप समो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्पर सुखम्॥

"काम-लिप्सा के समान व्याधि नही, मोह के समान वैरी नहीं, क्रोध के समान आग नही और ज्ञान से बढ़ कर कोई सुख नही।"

चाणक्य का यह लिखना भी बिल्कुल ठीक है कि 'न पश्यति च जन्माधः कामान्धो नैव पश्यति' अर्थात न तो जन्म के अन्धे को दिखाई पड़ता है और न कामान्ध को। इस कलुषित काम-लिप्सा का जो आघात पहुँचता है उसका प्रभाव संपूर्ण शरीर पर पड़ता है। यह केवल शरीर को ही विषाक्त और दुर्बल नही करती, बल्कि स्मरण शक्ति को दूषित स्मृतियो तथा अपवित्र मूर्तियो की कल्पना से आच्छादित कर देती है। यह अन्तः-करण को पथभ्रष्ट कर देती है और इच्छा शक्ति को निर्बल कर देती है। इसमे लिप्त हुआ पुरुष उसमे नित्य अधिकाधिक लिप्त ही हुआ जाता है। उसकी आकांक्षा कभी तुष्ट नहीं हो पाती। महाभारत मे यथार्थ लिखा है कि.—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥

"काम विषयभोग से कभी शान्त नही होता, बल्कि घृत पड़े अग्नि के समान भभकता है।"

तीसरे विकट दुर्गुण मिथ्याभाषण का स्वभाव भी बड़ा अनिष्टकर होता है। मिथ्याभाषण के स्वभाव मे केवल असत्य बोलना ही नही सम्मिलित है, बल्कि अतिशयोक्ति भी समाविष्ट है, जो कोई सत्य से परे कोई बेतुकी बात कहकर उसके आवरण

के रूप मे कही जाती है वा जिसमे विस्मृत बात की पूर्ति के लिए मनगढ़त बात बना ली जाती है, वा किसी घटना वा सत्य के सम्बन्ध मे कथन के साथ नमक मिर्च लगा लिया जाता है। यह अतिरंजित वर्णन भी मिथ्याभाषण ही मे सम्मिलित होता है। ये सूक्ष्म स्वभाव हैं जो बड़ी तीव्रता से बढ़ते हैं और निरंकुश नियत्रण प्राप्त कर लेते हैं। मिथ्या भाषण और छल के स्वभाव का सबसे बुरा लक्षण एक यह है कि वह सत्य और ईमानदारी की क्षमता को ही नष्ट करता जान पड़ता है। इस प्रकार के सभी जघन्य स्वभावो से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय यह है कि इनका तुरन्त और सर्वथा परित्याग किया जाय।

इन अनैतिक स्वभावो के बाद हम द्वितीय श्रेणी के स्वभाव को लेते हैं जिनकी हानिकारक वृत्ति इतनी अधिक स्पष्ट नही होती, किन्तु जो अनैतिकता और अपवित्रता तक का मार्ग दिखला सकते है।

हम सबसे पहले दीर्घसूत्रता वा काम टालते जाने के स्वभाव को लेते हैं जिस से आज किए जाने वाले काम को कल वा किसी अधिक सुविधाजनक भविष्यकाल पर टाल दिया जाता है। यह एक ऐसा स्वभाव है जो बहुत अधिकता से अपना प्रभाव दिखलाता है और बहुत रुचिकर तथा बाह्य रूप से युक्ति-सगत मालूम पड़ता है क्योकि किसी कार्य को कार्यान्वित करने के समय उसके उद्देश्य को मनुष्य भूल जाया करता है। इस लिए यह कहावत है कि "नर्क का द्वार अच्छे इरादो से भरा

रहता है। यह बहुत प्रसिद्ध उक्ति है कि "कल कभी नही आता।' अर्थात् कल पर छोड़ा हुआ काम कभी भी पूरा नही होता। इसलिए कहा गया है कि:—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
पल में परलै आयगी, बहुरि करोगे कब्ब॥

एक विद्वान की यह उक्ति बड़ी सुन्दर है कि "आने वाला कल मूर्ख के लिए बुद्धिमत्ता का, धूर्त के लिए ईमानदारी का, दीर्घ-सूत्री के लिए निर्णय करने का, आलसी के लिए काम करने का होता है।" जो केवल कपोल कल्पना, मधुर आकांक्षा मात्र होती है, कभी पूर्ण नहीं हो सकती। कबीर ने भी कहा है:—

आज कहै मै कल करू ं काल कहे फिर काल।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल॥

ऐसे दीर्घसूत्री पुरुषो के लिए भगवान बुद्ध ने भी उपदेश किया है कि:—

उट्ठान कालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो।
ससन्न सङ्कप्पमनो कुसीतो पञ्ञाय मग्ग अलसो न विन्दति।

"जो उद्योग के समय उद्योग न करने वाला, युवा और बली होकर भी आलस्य से युक्त होता है, मन के संकल्पो को जिसने गिरा दिया है, और जो कुसीदी (दीर्घसूत्री) है वह आलसी पुरुष प्रज्ञा के मार्ग को नही प्राप्त कर सकता।"

मरण-काल के अनुभव के दो दृष्टान्त दीर्घसूत्रता के खतरे ो प्रकट करते है। बहुत दिन हुए रूस के सम्राट पीटर महान

की मृत्यु हुई थी। अपनी वसीयत लिखने का काम अन्त तक उन्होने डाल रक्खा था। उन्मत्ततापूर्वक उन्होने स्लेट मंगवाई और वसीयत के दो शब्द लिखे कि "हमारी जायदाद दी जाय" किन्तु जिसे वसीयत दिलानी थी उसका नाम भरने तक का अवसर उन्हे नहीं मिला और वे यमपुर को विदा हो गए। भगवान की दृष्टि मे बहुत लोगो का जीवन इसी प्रकार का अधूरा वाक्य ही है जिनमे आज के कर्तव्य को सदा कल पर टालते रहने की दीर्घसूत्रता होती है। दूसरा उदाहरण सोने के प्रसिद्ध व्यापारी सेसिल रोड्स का है जिन्होने मृत्यु के समय ये अंतिम वाक्य लिखे थे। "इतना काम करना था, इतना कम काम हुआ, विदा।" दूसरी आदत जिससे सावधान रहने की आवश्यकता है आलस्य है। इसमे कभी मनुष्य अच्छा समय आने की व्यर्थ प्रतीक्षा करता रहता है, यथार्थ कार्य की जगह मधुर कल्पनाएं किया करता है, लापरवाही और सुस्ती मे समय नष्ट करता रहता है। कभी कभी यह किसी किसी काम के बन चुकने वा हो जाने के कारण मनुष्य मे उत्पन्न व्यर्थ के आत्मसंतोष वा आत्मश्लाघा से भी उत्पन्न होता है, मानो कुछ प्रगति होने पर नदी की बहती धारा मे कुछ दूर डांड़ चलाने के बाद डांड़ो पर हाथ रक्खे चुप बैठा जा सकता हो। जब कोई डांड़ खेने वाला कुछ दूर डांड़ खे ले जाय तो वह ज्यो ही डांड खेना बन्द कर दे त्यो ही फिर पीछे की ओर नाव का वह जाना बहुत ही सुगम होता है। एक विद्वान का कथन है कि "आत्मश्लाघा वा उससे

उत्पन्न आलस्य से बढ़कर मनुष्य की उन्नति का शत्रु कोई दूसरी वस्तु नहीं है।" प्रत्येक व्यक्ति को आलस्य के स्वभाव का प्रतिरोध करने के लिए अपने मे उद्योग का स्वभाव उत्पन्न करना चाहिए। बर्बादी को रोकने और सुस्ती से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय यही है कि हमारे सामने सदा कोई काम हो और हम उसमे सदा सलग्न रहे। हमे यह सदा ध्यान मे रखने की आवश्यकता है कि "आलस वैरी बसत तनु, सब सुख को हर लेत" भ्रतृहरि का सुन्दर उपदेश भी ग्राह्य है कि:—

आलस्योहि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो वन्धुर्यं कृत्वा नवासीदति ॥

"मनुष्य के शरीर मे आलस्य ही बड़ा भारी शत्रु है, और उद्यम के समान कोई बन्धु भी नहीं जिसके करने से दुख नही मिलता।"

भगवान बुद्ध का भी कथन है कि—

यो च वस्ससत जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो वीरियमारभतो दव्ह ॥

"आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़ उद्योग करने वाले के जीवन का एक दिन श्रेष्ठ है।"

इसीलिए आलसी पुरुषो की उपमा सूअर से देकर भगवान बुद्ध ने निर्देश किया है:—

मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो 'व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं, गब्भमुपेति मन्दो ॥

"जो पुरुष आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल बदल सोने वाला तथा दाना देकर पले मोटे सूअर की भाँति होता है, वह मन्द बार बार गर्भ मे पड़ता है।"

तीसरा अनिष्टकारी स्वभाव आत्मरंजन है जिसमे मनुष्य को चटोरपन, लालसा, और आकांक्षा की वृत्तियो द्वारा केवल अपनी इच्छा और सुविधा की चिन्ता करने की प्रवृत्ति होती है। और इन स्वाभाविक किन्तु ऐन्द्रिक प्रवृत्तियो की पूर्ति करने के प्रयत्न मे संलग्न होने से आसान कोई दूसरी बात नही हो सकती। चटोरपन शीघ्र ही इन्द्रियपरायणता और खाऊपन रूप मे हो जाता है, आकांक्षा शीघ्र ही दूसरो के सुखो और अधिकारो तक को कुचलने के लिए तैयार हो जाती है, और लालसा कठोर होकर लोभ हो जाती है जो द्रव्य पर ऐसी जड़ जमाती है कि उसे तनिक भी ढीला नही किया जा सकता।

हमने पहले ही कहा है कि बुरी आदतो का यथार्थ प्रतिकार कुछ अच्छी आदतो का डालना है। उदाहरणार्थ जीवन के साधारण और मानसिक क्षेत्र मे तीन बहुत बड़ी सहायक आदते है। वे हैं—एकाग्रता, परिपूर्णता और दृढ़ता वा अध्यवसाय। इन तीन स्वभावो ने कभी कभी महान विद्वान्, आविष्कारको और वक्ताओ की उत्पत्ति ऐसे पुरुषो से की है जिनमे नैसर्गिक योग्यता बहुत कम मात्रा मे थी।

एकाग्रता शब्द ही से मालूम पड़ता है कि इसका अर्थ किसी विषय पर ध्यान एकत्र करना है जिसमे मानसिक शक्ति का अप-

व्यय रोका जाय और ध्यान की सारी शक्ति आतशी शीशे की किरणों की तरह एक विन्दु पर उस विषय पर ही लाई जाय जो मस्तिष्क के सम्मुख हो।

परिपूर्णता दिखावटीपन का शत्रु है क्योंकि यह ऊपरी तल की तह मे गहराई तक जाती है और किसी अभिलाषित लक्ष्य के पूर्ण होने तक अनुगमन करती है। बहुत से लोग वस्तुओ की ऊपरी तह पर ही घूमते रह जाते हैं और कोई फल नही प्राप्त करते। कुछ लोग ऊपरी देख-भाल से सन्तुष्ट न होने पर जहाँ तहाँ गहराई तक छानबीन करते हैं, तह तक पहुँचते हैं और छिपी नसो और गुप्त धनकोष को ढूंढ़ निकालते हैं। किसी पुस्तक को एक ही वार इस तरह पढ़ लेना अच्छा है कि उसका पूर्ण पांडित्य प्राप्त हो जाय और उसे दुबारा न पढ़ना पड़े। इन स्वभावों से ही मिलता जुलता दृढ़ता वा अध्यवसाय का स्वभाव होता है जिसमे मनुष्य अत तक उद्योग में सदा सलग्न ही रहता है।

इस अध्याय के अन्त मे मूल लेखक ने तीन धार्मिक स्वभावो की चर्चा की है। पहला धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन का और दूसरा एकान्त ईश्वर-प्रार्थना का है। इनके विषय मे बहुत कुछ लोगो ने लिखा और कहा है। तीसरा स्वभाव परोपकार का है। दूसरो के उपकार मे लीन रहना मनुष्य की अपनी आन्तरिक शुद्धि के लिए अमोघ अस्त्र है। इससे वढ़ कर आत्म-शुद्धि पर दूसरी किसी भी बात का प्रभाव नही पड़ता। दूसरे की सुख वृद्धि की चिन्ता

से मनुष्य का अन्तःकरण उल्लसित भी होता है। दूसरो के कल्याण की अभिवृद्धि को करने के प्रयत्न मे उनके संसर्ग मे आने से हमारा कल्याण इसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार अस्वस्थ शरीर मे व्यायाम से शरीर के सभी अवयवो मे नीरोगता और स्वास्थ्य का सचार होता है। अतएव हमे एक भी दिन दूसरों की हित-चिन्ता के विना न व्यतीत करना चाहिए। चाणक्य नीति का श्लोक परोपकार की इस प्रकार प्रशसा करता है:—

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे॥

"जिन सज्जनो के हृदय मे परोपकार जागता है, उनकी विपत्ति नष्ट हो जाती है, उन्हे पद पद पर सम्पत्ति प्राप्ति होती है।"

किन्तु इतना ही नही, परोपकार वृत्ति का जिन पुरुषो मे अभाव है, वे अधम भी हैं, कर्तव्य-पथ से भ्रष्ट निकृष्ट कीट भी हैं। योगिराज भर्तृहरि का अमर वाक्य हमे सदा ही स्मरण रखना चाहिए:—

जातः कूर्म. स एकः पृथुभुवनभरायार्पित येन पृष्ठ
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमित यत्र तेजस्विचक्रम्।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणेनोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुंबरांतर्मशकवदपरे जतवो जातनष्टाः।

"कच्छप भगवान बड़भागी हुए जिन्होने अपनी पीठ पर सब जगत का भार लिया। फिर ध्रुव का जन्म सार्थक हुआ, जिसमे ग्रह-नक्षत्र आदि जुट कर दिन रात चलायमान है। जिसने पराये का उपकार न किया वह न तो कच्छप के समान नीचे गया और न ध्रुव के समान ऊपर गया, वह ब्रह्मांड रूपी गूलर के फल मे रहने वाले कीड़े के सदृश व्यर्थ हुआ।"

कबीर ने परोपकारी सज्जनो की प्रशसा किन मनोहर शब्दो मे की है:—

वृक्ष फले न आपको, नदी न पीवे नीर।
पर स्वारथ के कारणे, सन्तन धरा शरीर॥
तरवर सर वर सतजन, चौथे बरसे मेह।
परमारथ के कारणे, चारो धारे देह॥

किसी कवि का भी कथन उचित ही है कि:—

जो पराए काम आता धन्य है जग मे वही।
द्रव्य ही को जोड़ कर कोई सुयश पाता नहीं॥
पास जिसके रत्नराशि अनन्त और अशेष है।
क्या कभी वह सुर धुनी के सम हुआ सलिलेश है॥

११—संगति का नियमन

प्रत्येक मनुष्य उसी प्रकार का होता है जैसे लोगो की वह संगति करता है। एक विद्वान् का कहना है "तुम जिस तरह की संगति मे रहते हो, मुझे वता दो तो मै वता दूंगा कि तुम किस तरह के मनुष्य हो" और एक दूसरे विद्वान् का कथन है कि "तुम जिन लोगो का आदर करते हो, उन्हे मुझे वता दो तो अन्य सव वातो से अधिक उससे ही मै जान जाऊँगा कि तुम कैसे आदमी हो।" किन्तु इन दोनों से भी अधिक एक तीसरे विद्वान का कथन है कि "यदि तुम विचारवानो का साथ करोगे तो विचारवान वनोगे किन्तु मूर्खों का साथ करोगे तो तुम विध्वंस को प्राप्त होगे।"

इन वाक्यो से चरित्र-निर्माण पर संगति वा सगी-साथियो का प्रभाव हमे ज्ञात हो सकता है। सर्वाधिक महत्व की तीन गम्भीर वातें है। पहली, सगति हम पर आदान प्रदान और परामर्श द्वारा प्रभाव डालती है, दूसरी भले वा वुरे अभिप्राय के लिए सहयोग और सयोग द्वारा, तीसरी स्वय हमारे संगी-साथियो के सदृश हो जाने और एक रूप वनने द्वारा।

यह स्पष्ट है कि हमारे साथी हमारे विचारो, भावो और उद्देश्यो को निरूपित और इगित करते है। जिन व्यक्तियो की

हम संगति करते हैं, वे स्वभावतया उन बातों को हमें प्रदान करते हैं जो उनके प्रमुख विचारों को आच्छादित किए रहती हैं और जो उनके इरादों और निश्चयों को प्रभावित करती हैं। संगति का भाव ही विचारों और भावनाओं का परस्पर आदान-प्रदान प्रगट करता है और मित्रता जितनी ही दृढ़ होती है, उतना ही पूर्ण आदान-प्रदान होता है। इस कारण जो वस्तु हमारे चुने हुए मित्रों पर अधिकार जमाए होती है और उन्हें नियन्त्रित करती है, वह न्यूनाधिक हमें भी प्रभावित करेगी। उनका मस्तिष्क अपने संसर्ग में आने वाले अन्य मस्तिष्कों को थोड़े वा बहुत परिमाण में प्रलुब्ध और विचलित कर देगा वा स्फूर्ति प्रदान करेगा और ऊँचे उठाएगा, और दृढ़ व्यक्तित्व के कारण खड़ी की हुई रोकें भी इन दृढ़ मैत्री की संगतियों में पार कर ली जायेंगी वा मस्तिष्क का मस्तिष्क के अभ्यासयुक्त सम्पर्क से वे बाधाएँ टूट फूट जायँगी वा अलग कर दी जायँगी।

उसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि निकट संपर्क सहयोग और संयोग द्वारा भले वा बुरे के लिए हमें प्रभावित करते हैं। रस्से कई रस्सियों के बटने से बनाए जाते हैं। पृथक पृथक वे रस्सियां एक झटके को भी सहन नहीं कर सकतीं, किन्तु उन्हीं के बटने से बने रस्से से हाथी भी बांधा जाता है। दूसरों के साथ दृढ़ सम्पर्क का सबसे अधिक सुविधाजनक वा असुविधाजनक परिणाम उस संयोग से प्राप्त बल है और वह बल सर्वोत्तम अभिप्रायों की पूर्ति में लग सकता है वा जघन्य कुचक्रों की पूर्ति

में। ऐसे सम्मिलर्न मे निर्वलता शक्ति में लुप्त हो जाती है। और उसका परिणाम काम करने की सयुक्त शक्ति होता है, जिससे कभी कभी भारी कार्यों की सिद्धि का भरोसा होता है। निर्भय और साहसी व्यक्ति के सपर्क से डरपोकपन भी साहस पूर्ण हो जाता है, हिचकिचाहट दृढ़ निश्चय रूप मे वदल जाती है, अविश्वास विश्वास बन जाता है। वा इसके विपरीत विश्वास सदेह रूप मे लुढ़क जाता है।

इसी प्रकार तीसरा परिणाम सदृश वा तद्रूप हो जाना है। इसमे कोई संदेह नही कि हम सदा अपने विचारो के पदार्थ मे तद्रूप वा एक रूप होते जाते हैं जो हमारी सम्पूर्ण काया में अपने गुणो को ओत-प्रोत कर देते हैं तथा चरित्र, आचार और भाग्य का निर्माण करते हैं। यह पूर्णतया सत्य है कि बुद्धिमान वा मूर्ख का संसर्ग हमे बुद्धिमान या मूर्ख ही बनाता है। हम जिनकी स्वभावतया सगति करते हैं उन्हीं के समान हम अनजाने वा इच्छा पूर्वक हो जाते हैं।

यह सत्य चार मुख्य दिशाओ मे व्यक्त होता है: पहली, मानसिक रूप से, हमारी धारणाओ को स्फूर्ति प्रदान कर वा भ्रष्ट कर; दूसरी, हार्दिक रूप से, हमारी अनुरक्ति और आसक्ति के पदार्थों तथा धार्मिक विश्वास के रूप को भी निश्चित कर; तीसरी, नैतिक रूप से, नैतिक विवेचनात्मक शक्ति और चेतना को प्रभावित कर और नैतिक स्थिति को ऊचा वा नीचा कर;

चौथी, हमारी सवेदन-शीलता वा बोध-शक्तियो पर, उन्हे सुकुमार रख वा स्थूल और भद्दी बनाकर ।

अत्यधिक सधे हुए और विज्ञ मस्तिष्क के निकट सम्पर्क मे आना बहुत बड़े सौभाग्य की बात है । इससे विचारो का उत्तम स्वभाव बनता है । गम्भीर और सच्चे छात्रो की प्रगाढ़ मैत्री से प्राय: अध्ययन-शील खोज और अनुसधान की वृत्ति-जागृत होती है, क्योकि दार्शनिक, आविष्कारक वा वैज्ञानिक भद्द मस्तिष्को मे भी सृष्टि की शक्तियो और रूपो की समीक्षा करने की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं, कवि कल्पना शक्ति उत्तेजित करते है और रुचि का परिष्कार करते हैं, और न्याय के आचार्य हमारी तर्क शक्ति को विस्तृत करते है ।

हम सब का अधिकांश नैतिक जगत मे अनुभव किया हुआ सगति का यह प्रभाव ही है, क्योकि नैतिक प्रकृति मानसिक की अपेक्षा अधिक सुगमता से प्रभावित होती है। निर्मल, सुकृती और पवित्रात्मा की संगति का परिणाम कल्याणकर के बजाय कुछ दूसरा हो ही नही सकता । ऐसे प्रभाव के आधीन हमारी विचार,-धाराओ के मार्ग सभवतः निर्मल ही होगे और स्रोत उज्ज्वल होगा; किन्तु पापात्मा और धूर्त की सगति स्वभावतया ही हमारी काया मे अपने मलीन और अपवित्र विचार-स्रोत प्रवाहित करती है ।

प्रकृति-विज्ञान की खोजो से रग अनुकरण करने की बात ज्ञात हुई है । घोघे, पक्षी, रेंगने वाले जानवर और कीड़े मकोड़े

अपने पास के पदार्थों का रङ्ग ग्रहण करते देखे गए हैं, कुछ जतु तो पास की वस्तुओ का रूप और आकार भी ग्रहण कर लेते है। इसी प्रकार मनुष्य भी अनुकरणशील प्राणी है, वे अनजाने ही अपने चारो ओर के वातावरण का नैतिक और मानसिक स्वरूप से रग ग्रहण करते हैं जिससे उनमे स्वाभाविक वातावरण प्रतिभासित होता है।

इस सम्बन्ध मे हम अपने उत्तरदायित्व से भाग नहीं सकते। ऐसी सगतियाँ होती है जो प्रवल रूप से हमारी प्रकृति को ही प्रभावित कर देती है और वे अन्य अच्छी वा बुरी संगतियो के आने का मार्ग भी खोल देती है, चरित्र का गठन करने मे सहायक होती हैं जो स्थायी रूप से वना रह जाता है।

कुछ पौदे ऐसे पाए जाते हैं जो उगते ही तत्क्षण विषमय हो जाते है। इसी प्रकार यह निश्चित्त बात है कि दुरात्मा, अधार्मिक, नास्तिक और पाखडी व्यक्ति के पृथ्वी पर पग पड़ते ही दोष और पाप प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न हो आते हैं।

हम निस्सदेह ही, लाभकारी वा हानिप्रद प्रभावो का प्रतिकार कर सकते हैं। एक ही लकापुरी मे रहनेवाले सगे वन्धु रावण और विभीषण सरीखे दो विभिन्न प्रकार के गुणो वाले व्यक्तियो का दृष्टान्त हम लोगो के सम्मुख है। ये दोनो पात्र हम लोगो को सतत उपदेश देते हैं कि केवल वाह्य स्थितियो से, हृदय मे सहानुभूति रक्खे बिना मनुष्य धर्म वा अधर्म मे तद्रूप नही हो जाता। इसी प्रकार मनुष्य पाप को रोक कर पराभूत कर सकता

है। क्यो कि सहानुभूति की मात्रा ही प्रत्येक स्थिति मे यह निश्चित करने वाली होती है कि किस हद तक उसमे एकरूप हुआ जा सकता है।

संगति का प्रभाव मनुष्य पर इतना अधिक होता है कि उसके मुख से निकले शब्द, उसकी बोली तक उसकी सगति का भेद प्रकट कर देती है। उसके अध्ययन किए ग्रन्थ, उसको अभिभूत करने वाली रुचि, भावुकताए और पसन्दगी भी प्रकट कर देते है।

कबीर ने ठीक ही कहा है:—

बोलत ही पहचानिए, साहु चोर को घाट।
अन्तर की करनी सबै, निकसै मुख की बाट॥

एक विद्वान का कथन है कि "स्मृति शक्ति एक जाल है जिसमे से होकर सैकड़ो मील पानी बिना रुके बह जाता है किन्तु मछली जाल के छेद मे फँस जाती है।" सगति की शक्ति इतनी अधिक होती है कि मनुष्य सज्ञाहीन हो जाता है, उसको क्रूरता तक का बोध नही रह जाता।

हम सगति की सावधानी रखने की आवश्यकता शब्दो द्वारा बहुत अधिक नहीं प्रकट कर सकते। चरित्र और भाग्य को निर्मित करने वाली इससे बढ़कर दूसरी क्या बात हो सकती है? पवित्रात्मा और महान पुरुषो का ससर्ग मनुष्य को पवित्रता और महानता प्रदान करने मे सहायक होते हैं। कोई भी आस्तिक व्यक्ति सबसे अधिक आध्यात्मिक, शिष्ट, नीति-परा-

यण, और भगवद्भक्त जनो की मंडली मे जाने के अभ्यास से अधिक उत्तम कार्य नही कर सकता। सब बातो की अपेक्षा यह चरित्र को दृढ़ और प्रभाव को अभिवृद्ध करने मे अधिक कार्यकर होगा।

अन्त मे भगवान की सृष्टि-प्रकृति की गोद मे क्रीडा करना और मनुष्य की सर्वोत्तम कृति-ललित कला का आनद लेना हमारे लिए सुखप्रद है। विशुद्धतम रूप मे सौन्दर्य का आनन्द लेने मे लीन होना मनुष्य को ऊंचा उठाने वाला है।

लूथर प्रकृति और खुली हवा का पुजारी था। उसके नेत्र पक्षियो के अवलोकन मे आनन्द का लाभ करते थे और कान उसके कलरव का। भगवान बुद्ध का हृदय मनुष्य और अन्य प्राणियो के प्रति असीम सहानुभूति से ओतप्रोत था और प्रत्येक जीवधारी के प्रति उमड़ पड़ता था। उसीके परिणाम स्वरूप आज बहुसख्यक प्राणी उन्हे भगवान का अवतार मान उनके मतानुयायी बने हुए है। भारतवर्ष के ऋषि मुनि अरण्य-वास कर वन के पशुपक्षियो को ही सहचर बनाकर ब्रह्मज्ञान का इतना गहन विवेचन कर सके थे।

१२—आमो-दप्रमोदों का नियमन

सभी स्वस्थ प्राणियो की साधारण स्थिति आनन्द है, पूर्ण स्वास्थ्य का सम्बन्ध निश्चयतया पूर्ण उल्लास से होना चाहिए। भौ चढ़ाना और त्यौरी बदलना पाप के चिह्न और दाग हैं। शुद्धता प्रसन्नचित्त होती है और निर्मलता जाज्वल्यमान निर्झर है। ईश्वर ने मनुष्य को ऐसे लोक के लिए रचना की जहां सुख का साम्राज्य रहे। इसकी सभी प्रत्याशाओ पर शैतान का पग पड़ने तक यह भव्य था। कुछ लोग अपनी निराशावादी वृत्ति के कारण इस मनहूस धारणा का प्रचार करते हैं कि ईश्वर मनुष्य के सुखो से अधिक प्रसन्न नही होता और जब मनुष्य अपनी अपनी सुन्दर बातो पर प्रसन्न होने लगते हैं तो उनको अत्यधिक सुखी होने से रोकने के लिए परमेश्वर उन पर कुछ विपत्ति ला पटकता है।

भगवान की यह आकाक्षा कभी भी नही कि यह ससार एक मठ के रूप मे बदल जाय। ससार मे, विशेप कर, युवावस्था मे कुछ ऐसी बात होती है जो हृदय को अठखेलिया खेलते हुए सोते की तरह हृदय को आनन्द से तरगित कर देती है। एक विद्वान का वचन है "हे युवावस्था के युवक, आनन्द मनाओ, अपने हृदय से युवाकाल मे अपने को उल्लसित बनाओ, अपने हृदय की अवस्था और नेत्रो की दृष्टि की छाया मे चलो,

किन्तु यह याद रक्खो कि इन सब बातो के लिए तुम्हे भगवान के सामने उत्तर देना पड़ेगा।" इन शब्दों से व्यक्त होता है, कि आमोद अनुचित नही हैं किन्तु उनको सयमित रखने की आवश्यकता है।

हम यहां पर आनन्द-उपभोग को नियत्रित करने वाले कुछ सिद्धान्तो की चर्चा करना चाहते हैं। हम यह बात स्वीकार कर लेते हैं कि जो बात स्वय ही कलुषित है, वह कुछ समय के लिए किसी प्रकार के सुख की उपलब्धि करने पर भी 'दूषित आमोद' की गिनती मे ही आसकती है। हमे यह बात माननी पड़ती है कि इस प्रकार के आमोद मधु भरे ऐसे प्याले की भाँति हैं जिसकी पेंदी मे हलाहल विष भरा हो। हम इस अध्याय मे उन पाप पूर्ण आमोदो की चर्चा छोड सकते हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य तो निर्दोष आमोदो के औचित्य पर विचार करना है।

हमारी प्रकृति विश्राम, अवकाश, मनोविनोद की आवश्यकता अनुभव करती है। भगवान ने रात की नीद रूप मे यह आवश्यकता स्वीकार कर ली है, मनुष्य भी काम करने के घंटे कम कर और बडे बड़े नगरो मे उद्यान आदि रूप मे प्रत्येक सार्वजनिक आमोद-सामग्री की प्रचुर मात्रा मे व्यवस्था कर इसे अधिकाधिक अगीकार करता जा रहा है। वास्तव मे सार्वजनिक आमोदो के विरुद्ध आवाज उठाना उसी प्रकार का प्रयत्न होगा जैसे कोई समुद्र के ज्वार को झाड़ू से हटा देना चाहे। जो बात कलुषित हो वा जिसका झुकाव हानि पहुँचाने की ओर

उनका विरोध होना तक ठीक है। परिवार और समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह आमोद के हितकर, निर्दोष और सस्ते साधनो को प्रोत्साहित ही न करें, बल्कि उसकी व्यवस्था भी करे।

इतनी बात मान लेने पर हमे उसमे इतना और जोड़ लेना पड़ेगा कि यदि आमोदो को भ्रष्ट नहीं होने देना है तो इन्हे संयमित अवश्य रखना चाहिए।

निर्दोष आमोद के चार लक्षण है:—पहला, यह क्रियाशील होता है, अर्थात् नितान्त आलस्य के स्थान पर यह विभिन्न प्रकार के कार्यों मे विश्राम पाता है, दूसरा, यह नव शक्तिप्रद होता है अर्थात् यह क्षीण शक्ति को पुन प्राप्त कराने का साधन होता है, तीसरा, यह उन्नतिप्रद होता है, यह भ्रष्ट करने के बजाय उन्नत बनाने की ओर प्रवृत्त होता है, चौथा, यह नैतिक होता है, यह उच्च तल पर पहुँचाता है और केवल विनोद के लिए ही अत करण का गला नही घोटता। ये सिद्धान्त इतने स्पष्ट है कि इनकी साधारण चर्चा कर देने से अधिक व्याख्या की आवश्यकता नही।

सिसेरो नाम के विद्वान का कथन है कि अवकाश की घड़ी का भी कुछ लाभदायक उपयोग होना चाहिए। ईश्वर ने हम लोगो को ऐसा बनाया है कि मस्तिष्क के दूसरी दिशा मे लगाने से ही हमलोगो का सर्वोत्तम विश्राम होता है, और परिश्रम भी उस समय दिलबहलाव कर सकता है जब वह आमतौर पर

किए जाने वाले काम से भिन्न प्रकार के काम मे लगाया गया हो।

आमोद को केवल आमोद की ही दृष्टि से ग्रहण करना निश्चय ही भारी भूल है। आमोद वा मनोविनोद परिश्रम की थकान को कुछ क्षण के लिए भुला देने के लिए होता है, क्षीण शक्ति की पूर्ति के लिए होता है। ज्यो ही आमोद स्वय ही लक्ष्य बन जाता है, वह भ्रष्ट हो जाता है। यह समय और शक्ति बर्बाद करता है और हमे विनोद के अधम रूपो की ओर मोहित करता है, जो हमे निकृष्ट पद पर गिरा देता है जिससे हम पतित हो जाते है, इस प्रकार आमोद केवल तमाशा हो जाता है, जो वक्त को तेजी से काटने का एक ढङ्ग है, मानो समय की भगान पहले ही से यथेष्ट तीव्रगति की नही है।

हमे दूसरो के आमोद को सदा अपने ही भाव से नही देखना चाहिए, क्योकि जिस बात से हमारा मनोविनोद हो सकता है उन्हीं से दूसरो को भी सदा आनन्द की उपलब्धि नही हो सकती है। लोगो की रुचि भिन्न भिन्न होती है और लोगो की रुचि पर ही आमोद का होना निर्भर है। एक लेखक ने उन लोगो की भर्त्सना की है जो दूसरो को उचित आमोद से भी वचित करना चाहते है क्योकि उन्हे स्वय उनमे कोई आनन्द प्राप्त नही होता। उसने एक पुस्तक मे एक बिल्ली और मुर्गी का वर्णन किया है जो केवल अपने को ही चतुर व्यक्ति होने का दावा करते हैं, वे बत्तक की इसलिए खूब हँसी उड़ाते है कि वह पानी

पर तैरने और उसमे डुबकी लगाने से प्रेम करता है, किन्तु वे इन बातो को पागलपन का लक्षण समझते हैं।

आमोद की हातावन्दी करने का पहला नियम यह है कि यह उन्नतिप्रद और ऊँचा उठाने वाला होना चाहिए तथा विवेकपूर्ण बुद्धि, परिष्कृत रुचि और सच्ची भावना के अनुकूल होना चाहिए। मनुष्य इतना उच्च प्राणी है कि उसे भद्दे ढङ्ग के विनोद मे पड़ना उचित नही है। प्रकृति के साथ साहचर्य सदा ऊँचा उठाने वाला होता है। भगवान की सृष्टि मे मनुष्य असीम विभिन्नताओ को पा सकता है, ससार एक विशाल विनोद-वाटिका है और कला भवन है, वैसे ही मूर्ति कला, चित्र कला, स्थापत्य, तथा सगीत आदि मानव कला के उच्चतम रूप हैं। ये मनुष्य की पूर्ण गति को उत्थित करती हैं।

विवेक पूर्ण और मनोरंजक वार्तालाप मनोविनोद के सर्वोत्तम उपायों मे से एक है जिसमे आनन्द का उपदेश के साथ सयोग हो, किन्तु जिह्वा के सभी कार्यों और उपयोगो पर नियन्त्रण अवश्य ही होना चाहिए। सच्चा वार्तालाप एक-पक्षीय नही होता। यह केवल आलाप ही नही होता। इसमे पारस्परिकता सन्निहित होती है। वार्तालाप मे दो व्यक्तियो के कर्म उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार चक्की के दो पाटो के काम। कोई व्यक्ति सुन्दर विचार वा भावना व्यक्त करने मे अधिक समर्थ हुए विना उसे व्यक्त ही नही कर सकता और न कोई विचार वा भावना सुनने वा ग्रहण करने मे अधिक समर्थ हुए विना उसे सुन वा

ग्रहण कर सकता है। और जितना ही अधिक विवेचनात्मक वार्तालाप होगा उतना ही अधिक पारस्परिक आनन्द और लाभ की उपलब्धि होगी। इसमे सीखने की आवश्यकता नही हो सकती, बुद्धि का बुद्धि से इसी प्रकार टक्कर होना चाहिए जिस प्रकार चिनगारी उत्पन्न करने के लिए चकमक पत्थर का फौलाद से टक्कर होता है। उभयलिंगो के व्यक्तियो के परिष्कृत और उन्नत समागम से अधिक विशद लाभप्रद कोई वात नही हो सकती। कोई भी युवक वा युवती ऊँची उठाने वाली शक्ति का अनुभव किए विना परस्पर एक दूसरे से निर्मल सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते।

भगवान ने इस प्रकार के सामाजिक सम्पर्क को मानव कल्याण और आह्लाद दोनो का उच्चतम स्रोत वनाया है किन्तु शैतान ने, जो ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचनाओ को सदा भ्रष्ट करने मे लगा रहता है, उभयलिंग के पुरुषो के समागम को विषाक्त और भ्रष्ट करने मे कुछ भी उठा नही रक्खा है।

गायन और वादन दोनो प्रकार के संगीत से बढ़कर और अधिक उन्नतिप्रद कोई भी आमोद नहीं है। एक लकड़ी के टुकड़े पर तनी हुई तांत पर घोड़े की पूंछ के बालो से रगड़ने पर जब सारगी मे वह मधुर स्वर-लहरी उत्पन्न होती है जो मनुष्य के मधुरतम राग को भी मात करती है तो वह एक अद्भुत वस्तु वन जाती है वा जंव सितार के तार अगुलि स्पर्श पर

कंपित होकर सुन्दर स्वर-लहरी उत्पन्न करते हैं तो स्तब्ध कर देते हैं।

दूर-दर्शक वा सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की सहायता से प्रकृति का अध्ययन बड़ा कौतूहलोत्पादक होता है। यात्रा से भी प्रकृति और कला के अध्ययन द्वारा अनेक प्रकार के आनन्दोपभोग की झड़ी लग जाती है। बच्चों के साथ खेल कभी कभी वृद्धों मे भी युवापन का अनुभव कराता है। सार्वजनिक भाषण यदि गंवारूपन और भँड़ैती से भ्रष्ट न हों तो प्रचुर विनोद और अधिक उत्कर्ष प्रदान कर सकते हैं।

किन्तु हम फिर इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि लगभग सभी आमोदो, विनोद-सामग्रियों पर नैतिक प्रहरी सावधानी पूर्वक अवश्य ही रखना चाहिए। आमोदों के नियमन के लिए तीन मुख्य प्रतिबंधात्मक नियम यहां दिए जाते हैं। पहला, व्यापक रूप से मनुष्य के पूर्ण चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ता है; दूसरा, व्यापक रूप से दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है; और तीसरा, यह कि व्यापक रूप से आनन्द मे इच्छा शक्ति को पाशबद्ध करने और फंदे मे डालने की प्रवृत्ति उसमे है वा नही। हम समझते हैं कि ये सिद्धान्त सर्वांगीण हैं और सच्चाई के साथ अनुसरण करने पर कोई बात छोड़ते नही। यदि कोई आमोद व्यापक रूप से मेरे लिए सहायक नहीं है, वा व्यापक रूप से दूसरो के लिए सहायक नहीं है तो वह त्याज्य है। यदि इसका साधारण परिणाम मेरे चरित्र की स्थिति निम्न करना

है, वा यदि यह दूसरो के सम्मुख उदाहरण की भांति रक्खे जाने पर दुर्बल को भी पथविचलित करने वाला है तो इसको पराभूत करना मेरे कर्तव्य और विशेषाधिकार का एक अंग है। हम किसी ऐसे आनन्द का मोल चुकता करने मे समर्थ नही हो सकते जो किसी भी मात्रा मे अधम हो वा जिसमे लिप्त होने से हम नीचे गिरते हो, और न अपने लिए कोई ऐसा आमोद ग्रहण करने मे समर्थ हो सकते हैं जिसका प्रभाव दूसरो पर हानिकर वा सदिग्धात्मक भी हो। इसलिए यदि किसी आमोद का प्रभाव हम पर वा दूसरो पर हितकर नही है तो यह कहना पर्याप्त नहीं कि वह आन्तरिक वा स्वाभाविक रूप से कलुषित नही है।

अनेक संदिग्धात्मक आमोदो के लोकप्रिय रूपो की जाँच करने के लिए इसे हसे ठीक कसौटी समझते हैं। कदाचित हम आधुनिक सभ्यता के छः प्रचलित आमोदो की चर्चा करने का साहस कर सकते हैं जिसे एक लेखक ने दुष्ट व्यक्तियो का मुहर किया हुआ निश्चित अधिकार वतलाया है। वे हैं—ताश के खेल, जुआ के खेल, सरकस, घुड़दौड़ थिएटर, और नृत्य। हम लोगो के युग मे नैतिक विचार इतने ढीले हो गये हैं कि इनमे धार्मिक व्यक्तियों को भी सन्देह मालूम पड़ने लगा है कि ये किस हद तक त्याज्य हैं, किन्तु एक वात स्पष्ट है कि आप इन विनोद-लिप्साओं मे उच्चतम कोटि की पवित्रता और उपयोगिता कभी भी नही पा सकते। यदि उन पर उचित पहरेदारो की नियुक्ति हो क्षति होने

और विषाक्त प्रकृति से सुरक्षित रक्खे जायँ तो यह संभव है कि इनमे से कुछ ऊँचा उठाने वाली वा कम से कम निर्दोष हो जायँ। किन्तु इसमे ऐतिहासिक तथ्य रह ही जाता है कि ताश के खेलो का शताब्दियो से चालाकी और धूर्तता का सम्बन्ध रहा है और जुआ के खेल से जुआ खेलने की उत्तेजना मिलती रही है, उनसे अनेक परिवारो का सहार होता आया है, महाभारत का युद्ध उसका ज्वलन्त प्रमाण है, सरकस का दर्शको पर भ्रष्ट परिणाम पड़ता है, घुड़दौड़ मे गिरह-कट, चोर और वदमाशो का अड्डा जमा रहता है, थिएटर और सिनेमा सदाचार की पाठशाला हो सकता था, किन्तु कभी वनाया नही जा सका, और आज कल का पाश्चात्य नृत्य नैतिक पवित्रता के लिए फंदा है।

आमोद के इन प्रकारो मे से प्रत्येक के लिए एक-एक पृथक ग्रंथ की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु पुस्तक के मूल लेखक ने लिखा है कि "पचास वर्षों तक उनका प्रभाव देखने के बाद हमारी वहुत ही पक्की राय यह है कि समाज की ये व्यवस्थाएं नैतिकता और पवित्रता के लिए भारी खतरे से भरी हैं और अत्यधिक अनुभव और निरीक्षण के पश्चात उत्पन्न हुई अपनी इस निश्चित, शान्त और ईमानदारी की राय को ले हम इस समय चुप रह रहे है और इन विषयो का ईमानदारी से अध्ययन करने वाले अधिक योग्य तथा अधिकारी लेखको पर इन विषयो पर विस्तृत निवध लिखने का भार छोड़ रहे है।"

मनुस्मृति मे व्यसनो की निन्दा की गई है जो व्यर्थ समय काटने के साधन है। मनु भगवान ने आदेश दिया है कि 'व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्', अर्थात् व्यसन बड़े विकट होते है, उनका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए। काम से उत्पन्न दस व्यसन मनुस्मृति मे बताए गए है—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्न परिवाद स्त्रियो मद ।
तौयत्रिक वृथाढ्या च कामजो दशको गण ॥

"शिकार खेलना, जुआ खेलना, दिन मे सोना, दूसरो के दोष का वर्णन, स्त्रियो का सहवास, मद्य का मद, नाचना, गाना, बजाना, और व्यर्थ घूमना ये काम से उत्पन्न दस व्यसन है।"

व्यसनो की निन्दा मनुस्मृति मे इस प्रकार की गई है—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसन कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोधो, व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥

"मृत्यु और व्यसन मे व्यसन को ही विशेष कष्ट कहा है, क्योकि व्यसनी बराबर नीचे ही नीचे गिरता है और अव्यसनी मरने पर स्वर्ग को जाता है।"

सभी आमोदो मे अति न होने देना चाहिए। उनमे न्यूनाधिक उत्तेजना होती है जो अधिक समय तक रहने पर दिल हल्का करने के स्थान पर थकान पैदा करती है। आनन्द सहज ही क्षय को प्राप्त होने लगता है और पुनःशक्ति प्रदान करने के स्थान पर क्लान्ति उत्पन्न करने वाला हो जाता है। यदि ईश्वर की इच्छा यह न होती कि हम हँसे तो वह मुख मे दो सौ

पचास पेशियां न रक्खे होता जो सब की सब केवल अट्टहास के समय गतिशील होती हैं। और वह प्राणियो मे केवल मनुष्य को ही हास्य का गुण न दिए होता, किन्तु साधारण शक्ति के उपयोग मे अति हो सकती है और वह कल्याणकर होने के स्थान पर विध्वसकारी हो सकती है।

कोई भी आमोद का भेद उपहास की अपेक्षा अधिक अति-रजित होने वाला नही है। हँसी मे अति हो जाने की विशेप प्रवृत्ति मालूम पड़ती है जिससे यह तत्त्वण निर्दोप नहीं रह जाती और हानिकर हो जाती है तथा अश्रद्धा तथा छिछोरेपन की ओर तक झुक जाती है। स्वाभाविक तुच्छता की सभी प्रवृत्तियां निश्च-यात्मक रूप से हानिकर होती हैं। इस कारण हमे गभीरता की शक्ति और सच्चाई की त्तमता का कभी भी परित्याग नही करना चाहिए। गोल्डस्मिथ ने लिखा है, "मूर्खों का समागम हम लोगो को पहले हँसा सकता है किन्तु हमे अन्त मे खिन्न बनाने से कभी चूक नही सकता।"

दूसरी चेतावनी यहां असगत नही हो सकती। कोई भी आमोद निश्चितता से ग्रहण नही किया जा सकता जिसके अपने चरित्र और भाग्य-निर्माण पर अन्तिम परिणाम की सावधानी के साथ जाच न कर ली जाय। सर्वसाधारण को, और विशेष कर युवको को, हल्के और सांसारिक आमोद प्रमोदो को इस आधार पर समर्थन करते देखा जाता है कि वे जब तक युवा हैं तब तक आनन्दोपभोग कर लेना चाहते हैं और उनके

लिए भी समय आएगा जब वे स्वय उनसे थक जाएँगे और वह उनको गंभीर बनने तथा उन आमोद-प्रमोदो का परित्याग कर देने का यथेष्ट समय होगा।

किन्तु हमे यह न भूल जाना चाहिए कि उसी समय उनका चरित्र स्थायी रूप ग्रहण करता जा रहा है। एक विद्वान ने कहा है कि ऐसे सासारिक आमोद-प्रमोद मेहराब बनाने के लिए लकड़ी के ढांचे की भाँति हैं। जब मेहराब पूर्ण हो जाता है तो लकड़ी का ढांचा तोड़ दिया जाता है किन्तु उससे मेहराब जो आकार धारण कर लिया होता है वह स्थायी रूप मे रह जाता है।" पुस्तक के मूल लेखक ने एक स्थान पर कुडल बाधे हुए लता देखी जो किसी समय एक पेड को आवेष्टित कर घुमाव देती हुई कुडलाकार ऊपर चली गई थी। वह वृक्ष सूखकर सड गल कर नष्ट हो गया था, किन्तु लता को अपरिवर्तनीय रूप प्राप्त हो गया था और वह कभी फिर सीधी नही बनाई जा सकती थी। जिन आमोद-प्रमोदो मे तुम लिप्त होते हो, थक जाने पर उनका जब तुम परित्याग कर देते हो तब वे तुम्हे अधिक ऊँचे आनन्दो के लिए स्थायी रूप से असमर्थ और उदासीन बना जाती है तो उसके क्या लाभ ?

यह एक ऊँचा सिद्धान्त है कि आमोद के लिए ही आमोद मे सलग्नता नही होनी चाहिए, बल्कि कर्तव्य-मार्गों मे आनन्द का अनुभव करने के लिए होनी चाहिए। आनन्द हमारी छाया की तरह है जो पीछा किए जाने पर भागता है किन्तु

जब हम भागते है तो वह पीछा करता है। उर्दू का शेर ठीक ही है कि,—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम।
तर्क जब हमने किया तो बेकरार आने को है॥

अर्थात् "जब हमने ससार की वा ससार के सुख की आकांक्षा रक्खी तो वह दूर भागता रहता था, किन्तु जब हमने उसकी आकांक्षा छोड़ दी तो अब वह हर समय हमारे समीप आने के लिए व्यग्र है।"

कर्त्तव्य के मार्ग मे सदा आनन्द के अनुभव प्राप्त होते है। भगवद्मार्ग मे जाते हुए मधुर सोतो को पाए बिना हम रह नही सकते। उनका ही स्वाद बढ़ाने के लिए कही कुछ कटु भी पदार्थ मिलें तो उससे क्या?

हमारी प्रसन्नता मे वृत्तियो का बहुत कुछ भाग होता है। प्रसन्न मिजाज़ धन से अच्छा होता है। जिस प्रकार सूर्य कुहरे का नाश करता है, उसी प्रकार यह आपदाओ का लोप करने की अद्भुत शक्ति रखता है।

निःस्वार्थ दान से बढ़कर भी कोई आनन्द है, इसकी खोज अभी तक कोई भी नही कर सका है। आत्मरजन के कोई भी आमोद उस आह्लाद की तुलना कभी नही कर सकते जो दूसरो की आवश्यकता और आपदा के समय उनकी सहायता मे अपना हाथ बटाने मे होती है। इस दान का फल मनुष्य को ही घूम फिर कर फिर मिलता है। एक अरबी भाषा की कहावत है, जिस

का तात्पर्य है कि "नारियल के पेड की जड़ मे तुम जो पानी डालते हो वह नारियल के दूध रूप मे मधुर वनकर तुम्हारे पास लौट आता है जो डालो से स्रवित होता है।"

रहीम ने भी कहा है—

तव ही लो जीवो भलो, दीवो होय न धीम।
जग मे रहिवो कुचित गति, उचित न होय रहीम॥

कवीर का यह सुन्दर आदेश सदा स्मरणीय है:—

हार वड़ा हरि भजन कर, द्रव्य वडा कछु देय।
अकल वड़ी उपकार कर, जीवन का फल येह॥
दान दिए धन ना घटे, नदी न घटियां नीर।
अपनी आँखो देख लो, यो कथ कहे कवीर॥

किसी विद्वान का कथन है कि—

दानेन भूतानि वशी भवति दानेन वैराण्यापि यान्ति नाशम्।
परोऽपि व्रन्धुत्वमुपैति दानैर्दान हि सर्वव्यसनानि हन्ति॥

"दान से सभी प्राणी वश मे हो जाते है, दान से वैरियो का भी नाश हो जाता है। दान से दूसरे भी सगे वन जाते हैं, दान सभी वुराइयो का नाश करता है।

भगवान वुद्ध का भी आदेश है कि:—

न (वे) कदरिया देवलोक वजन्ति,
वाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दान अनुमोदमानो,
तेनेव सो होति सुखी परत्थ॥

"कजूस देवलोक नही जाते, मूढ़ ही दान की प्रशसा नही करते, धीर दान का अनुमोदन कर उसी (कर्म) से परलोक मे सुखी होता है।"

यहां पर हम दो छोटी सुन्दर उपदेशपूर्ण कहानिया देकर अध्याय समाप्त करते है। एक कहानी एक जादू के चमड़े की है जो धारण करने वाले को मुहमांगी वस्तु प्रदान करता था किन्तु प्रत्येक लिप्सा पर सिकुड़ता जाता था, यहा तक कि इसने धारण करने वाले का प्राण ही ले लिया। यह जादू का चमड़ा स्वार्थ-वृत्ति है जो प्रत्येक इच्छापूर्ति पर उसमे लिप्त होने वाले को दबोचती है।

दूसरी कहानी पखहीन पक्षियो की है। कहा जाता है कि भगवान ने पहले पक्षियो को सुन्दर दुम और कलरव युक्त बनाया, किन्तु पख नही थे, फिर भगवान ने पख दिए और उनको बोझ की भांति लाद कर उडने के लिए कहा। पक्षियो ने आज्ञा पालन कर पखो को कधे पर लाद लिया और उनकी गति तीव्र हो गई। उनका वह बोझ स्वय उन्ही को ढोने वाला हो गया। जो भगवान के आदेश पर कर्तव्य का बोझा अपने सिर पर लाद कर चलते है, उन्हे आह्लाद ही प्राप्त होता है, जिससे वे दास होने के स्थान पर मुक्त हो जाते हैं। उनका भार पख रूप मे परिवर्तित हो जाता है।

—∞—

१४—उद्देश्य का नियमन

समस्त जीवन का केन्द्र इच्छा शक्ति है। विवेक-युक्त प्राणी की सबन्धित सभी बातो का मध्य विन्दु उसी मे होता है, और जीवन के कार्य-कलाप के लिए वह तत्क्षण मुख्य स्रोत और केन्द्रीय चक्र का काम करती है। डा० ग्रिफिथ थामस नाम के विद्वान का ठीक ही कथन कि "जिह्वा पर के तीन सबसे महत्व-पूर्ण शब्द ये है कि 'मै हू' जो चेतना की पुकार है, 'मैं कर सकता हू' जो सम्भावना की पुकार है; तथा 'मैं करू गा' जो दृढ़ सकल्प और दृढ़ निश्चय की पुकार है।"

उद्देश्य और कार्य मे वडा गहरा सम्बन्ध है, क्योकि जो कुछ कार्य सम्पादित किया जाता है उसकी पहले सयोजना की जाती है, इस कारण निरुद्देश्य जीवन ऐसा ही है मानो किसी बन्दूकची ने कोई निशाना लगाए विना ही गोली दाग दी हो। लक्ष्यहीन जीवन निरर्थक है, निरर्थक से भी गया बीता है और स्वय अपने और दूसरो के लिए भी वाधा है। ऐसा मनुष्य मानवता रूप मधुमक्खी के छत्ते का निकम्मा नर मधुमक्खी है जो कोई काम नही करता, मानव जाति के विशाल पल्लवित वृक्ष पर वंभा है जिसमे फल फूल कभी नही लगते। उद्देश्य शक्ति का सचय करता है, यह जीवन-सरिता मे वॉध निर्मित करता है और पानी से पनचक्की के चक्के घुमवाता है। उद्देश्य

जीवन को एक विशद वक्तृता बनाना है जो सत्कार्य सम्पादन के लिए एक महान और उत्साह-पूर्ण उद्वेग युक्त धारावाही होती है। प्रत्येक कार्य शक्ति का वाक्य होता है और वक्तृता दोधारी तलवार होती है। लक्ष्य-हीन मनुष्य की अपेक्षा किसी अधम लक्ष्य रखने वाले व्यक्ति से अधिक आशा की जा सकती है जिस प्रकार कि एक बन्द तालाब की अपेक्षा विध्वसक धारा से अधिक लाभ की आशा हो सकती है, क्योकि हम विध्वसक धारा को तो उपयोगी नाले के रूप मे वदल भी सकते है किन्तु तालाव का पानी तो सुखा ही देने योग्य होता है जिससे वह पानी की सड़ान से विष न फैलावे। अपने जीवन मे कोई लक्ष्य न होने से कितने ही व्यक्तियो ने अपने जीवन की भूल को निष्फल जीवन बिताने के वाद अनुभव किया है।

इस कारण जिन सिद्धान्तो पर जीवन की अभिरुचि निर्वाचित की जाय और उस पर दृढ़ रहा जाय, वे अत्यधिक महत्व के है। जीवन को नियन्त्रित करने के लिए एक उद्देश्य निर्वाचित कर लेना चाहिए, अर्थात् कोई मुख्य नियामक और सचालक उद्देश्य होना चाहिए। हमारे जीवन मे छोटे वड़े उद्देश्य नित्य ही उपस्थित होते है, महत्तर उद्देश्य रहने से हम निम्नतर लक्ष्यों को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनुसरित करते हैं। किन्तु प्रत्येक वात अन्तत एकाकी लक्ष्य पर ही निर्भर करती है, वह एकाकी लक्ष्य हमारे कार्य-कलापो को सलग्न करने योग्य होता है। यह प्रकट है कि कोई वहुत निम्न उद्देश्य सहज ही वास्तव

मे प्रधान उद्देश्य वन सकता है, जैसे कि कोई मनुष्य जब लाभ की उत्कट इच्छा से प्रेरित होता है तो वह मनुष्य को उसके ग्रहण किए जाने वाले रुपयो की तरह धातु के सिक्के रूप मे कठोर, निर्मम और अनुत्तरदायी वना देती है। वहुत लोगो पर भव्य वस्त्राभूपण से छैला वने रहने का भूत ही सवार रहता है जिसमे उनका असीम धन फुक जाता है। नवाव वाजिद-अली शाह सरीखे ऐश्वर्य, भोग-विलास-लीला का अनुसरण करने वाले पुरुपो का तो आज भी अभाव नही हो सकता। सस्कृति के सवध मे भी मनुष्य स्वार्थी हो सकता है जो शिक्षा और विद्वत्ता को व्यक्तिगत सम्पत्ति के सूक्ष्म रूप की भाति केवल अपने तक ही रक्खे।

यदि मुख्य सचालक उद्देश्य सर्वोत्कृष्ट कोटि का रखना हो तो आदर्श से संवन्धित होना चाहिए और नितान्त रूप से ऊँचा उठाने वाला होना चाहिए। इस प्रकार के उच्च उद्देश्य के महत्व को अतिरजित करना असभव है। यह क्षुद्र व्यक्ति को भी महान वनाता है, यह स्वय ही महानता का सृजनकर्त्ता और शिक्षक होता है। लच्छेदार भापण देने वाले और ओजस्वी वक्ता मे महान उद्देश्य ही विभेद करता है। एक विद्वान ने एक ओजस्वी वक्ता की इस प्रकार प्रशसा की है कि "उसकी विशिष्ट प्रशसा यह थी कि स्वाभाविक था, किसी भी यथार्थ ओजस्वी वक्ता की भाँति उसकी वास्तविक मोहनीशक्ति उसके उद्देश्य का एकाकीपन, अपने उद्देश्य की दृढ़ता-पूर्वक ग्रहण-शक्ति और

उसकी महान सच्चाई थी।" यथार्थ ओजस्वी वक्ता अपने श्रोताओ को ऊँचा उठाने, उच्च परिणाम प्राप्त करने के लिए बहुत ही अधिक सोचता है। प्रवीण वास्तुकलाविद की भाँति वह आभूषण का ही निर्माण नहीं करता, बल्कि आभूषण-निर्माण कला का ही निर्माण करता है। सुकरात से पूछा गया कि वह कुछ नही लिखता तो उसने कहा, "मै मृत भेड़ो के चाम पर लिखने की अपेक्षा जीवित मनुष्यो के हृदय पर अकित करूगा।" (चाम का नाम इसलिए लिया गया है कि कागज की जगह हमारे देश मे भोजपत्र तथा ताड़पत्र जिस प्रकार उपयुक्त होता था, उसी प्रकार यूनान मे चाम का उपयोग लिखने के लिए होता होगा)। इसी प्रकार नीग्रो जातियो के उद्धारक बुकर टी० वाशिंगटन ने कहा था, "अन्तिम छानबीन मे ससार इस बात की बहुत ही कम चिन्ता करता है कि आप या हम क्या 'जानते' है बल्कि यह बहुत इस बात का विचार करता है कि हम या आप क्या 'करते' हैं" हाथ को जेब मे डालकर हिलाते हुए सड़क पर चलने वाले शिक्षित व्यक्ति का उस अज्ञानी व्यक्ति से एक कौडी भी अधिक मोल नही है जो जेब मे हाथ डाले रहता हो।

जीवन का नियन्त्रण करने के लिए जो उद्देश्य चुना गया हो वह सम्पूर्णता के यथासम्भव अधिक से अधिक समीप तक पहुँचने वाला होना चाहिए। महान उद्देश्य रखने मे यह लाभ है कि यदि वह असाध्य भी हो तो भी वह नए प्रयत्नो के लिए

उत्तेजित करता है जिससे मनुष्य अपने आत्म-लक्ष्य तक पहुँचने का कभी भी अनुभव नहीं कर पाता जिसके परे कोई प्रगति नही हो सकती। डा० ए० गार्डन नाम के एक विद्वान का कथन है कि "मै अपूर्णता का लक्ष्य रख कर उसको पूरा कर लेने के स्थान पर वल्कि पूर्णता का लक्ष्य रक्खूंगा और उससे वहुत पीछे रह जाऊँगा" हम लोगो मे से अधिकाश अपूर्णता पर लक्ष्य रखते हैं और उसे प्राप्त करने मे सफल होते है।

कोई भी मुख्य उद्देश्य संचालक होने योग्य नही है जो किसी के अपनेपन पर केन्द्रित और समाप्त होता है। यह स्वयसिद्ध वात की तरह स्वीकार कर लेना चाहिए क्योकि सर्वोत्कृष्ट आत्म-लाभ भी उच्चतम कार्य-कलापो और शक्तियो को आह्वान करने के लिए यथेष्ट नही होता। यह शोक-पूर्ण वात है कि लोग आत्म-त्याग के इतने उच्च सिद्धान्त को अपने हृदयो से विलीन कर रहे है। प्रेसिडेंट इलियट नामक सभ्रान्त पुरुष ने, जिसके स्फूर्तिमय वाक्यो से कितने ही युवको के जीवन मे नव-जीवन प्राप्त हुआ है, लिखा है "किसी भी ऐसे व्यक्ति का नाम इस ससार मे यशस्वी नही रहता जिसने अपने जीवन कार्य को किसी प्रकार के भौतिक, मानसिक वा नैतिक उत्थान से सवधित न रक्खा हो।" वहुतो की धर्म की साधारण भावना जीवन को आचरण की परीक्षा और उसका प्रधान कार्य अपनी मुक्ति मानने से अधिक ऊँचे नही उठती। किन्तु यह धर्म-सम्मत नहीं है। जो अपनी जीवन-रक्षा करता है वह उसे खो

देता है। हममे मानव उत्थान और उच्च भद्रता के निश्चय के लिए उद्वेग होना चाहिए। देशभक्ति महान है, किन्तु उससे भी महान पवित्रता दूसरे के त्राण, आहुति और मानवात्मा को श्रेष्ठ पद प्रदान करने के लिए अपनी प्राणाहुति करना है। हम ऐसे व्यक्ति की धार्मिकता पर कभी कभी आलोचना कर सकते हैं जो अन्य मनुष्य को अज्ञानांधकार मे डूबते हुए देख कर स्वय अपनी साधना, आत्मज्ञान का अभिमान कर सतुष्ट बैठा रहे। सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति दान करने के लिए स्वय प्राप्त करने की है और व्यावसायिक वृत्ति फल पाने के लिए दान करने की है। इन दोनो मे कितना गहरा अतर है। दूसरो का जीवन अधिक क्लेश-हीन बनाने की अपेक्षा हमारा अत्यधिक श्रेष्ठ जीवन और फिर क्या हो सकता है ?

निस्स्वार्थ जीवन अन्त मे उच्चतम पारितोपिक ही प्रदान करता है। एक महापुरुप का कथन है कि "जब प्रेम के लिए कोई सेवा की जाती है तो जितना ही अधिक कठोर, अरुचिकर और महती सेवा वा त्याग होता है उतनो ही अधिक प्रचुर और परिपूर्ण प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, इस कारण उनका ह अधिक सतोष होता है।" प्रेम कठोर साधना से प्रेम करता है। एक बहुत ही आततायी, दुष्ट तुर्क बादशाह की कहानी प्रचलित है कि अत्यधिक दुष्टता के लिए जब वह नरक मे ढकेल दिया गया तो उसका एक पैर जिस से उसने एक मनुष्य के

जीवन की रक्षा की थी नरक की ज्वाला से अलग रहने देने की अनुमति मिली थी।

इसी कारण गीता मे सात्विक कर्म का लक्षण बतलाया गया है कि—

नियत सगरहितमरागद्वेषत कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

"जो कर्म नियत, कर्त्तापन के अभिमान से रहित, फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा किया जाता है वह सात्विक कर्म कहा जाता है।"

उपर्युक्त सभी बातें केवल एक बात मे सम्भवत सन्निविष्ट हो सकती है, वह केवल एक उद्देश्य है जो मनुष्य को भगवान के साथ इस प्रकार सम्मिलित करा देता है जिसमे भगवान की इच्छा को सेवक संचालिनी शक्ति और दिव्य जीवन के रहस्य रूप मे स्वीकार और अनुगमन करता है। इसकी महत्ता विचारणीय है। मनुष्य और भगवान एक केन्द्र पर परिभ्रमण करते है।

इस विश्वास को दृढ़ करने के लिए गीता मे बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

ईश्वर सब प्राणियो के हृदय-देश मे रहता है और हे अर्जुन-सब जीवो को चक्र पर चढ़ाए हुए माया द्वारा घुमाता है।"

भगवान को सब का प्रेरक मान भगवान की इच्छा को ही सब वस्तुओ मे मानने के नियामक उद्देश्य के तीन लाभ हैं, पहला पूर्ण रक्षा का निश्चय रहता है। दूसरा पूर्ण सफलता प्राप्त होती है, तीसरा पूर्ण सतोप प्राप्त है।

इसी लिए गीता का उपदेश है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परांशांतिं स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

"हे अर्जुन, सब प्रकार से तू उसी की शरण ले और उसी की कृपा से तू परम शान्ति और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।"

इस प्रकार हमे शास्त्रकारो ने यह आदेश दिया है कि हम पहले भगवान और उसकी न्यायनिष्ठा की अनुरक्ति करे, तब अन्य सब पदार्थ स्वयं ही हमारे पास आ जायेंगे। इस तरह दो प्रमुख सिद्धांत हमारे सम्मुख आते हैं। पहला यह है कि जब हम प्रमुख उद्देश्य को प्रमुख पद प्रदान करते है तो गौण कल्याण वा हित हमारे मॉगे विना ही भगवान द्वारा प्राप्त हो जाते है मानो मनुष्य ससार मे भगवान के महान उद्देश्य की पूर्ति सदृश महान कार्य-सम्पादन मे आत्मत्व को सर्वथा विलीन कर अपने जीवन के गौण सत्कार्यो और हितो को दृष्टि डालने योग्य भी नही समझता। इसके विपक्ष दूसरा सिद्धान्त यह है यदि हम गौण हितो को ही प्रमुख पद प्रदान करे तो प्रमुख हित का लोप ही हो जाता है और गौण

हित की तृप्ति मे भी सफलता मिलने का निश्चय नहीं होता। इस प्रकार भगवान की सृष्टि के इन महान सिद्धान्तो के अत्यधिक अनुशीलन की आवश्यकता है। ये इस बात की मुख्य परीक्षा है कि हम क्या हैं और क्या होगे। इस तरह जब जीवन भगवान की इच्छा से नियमित किया जाता है तो जो बात मनुष्य की दृष्टि मे असफलता जान पड़ती है वही भगवान के लिए सफलता होती है।

गीता मे कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो मुझको सर्वत्र और सब को मुझ मे देखता है मै उसके लिये नष्ट नही होता और वह मेरे लिए नष्ट नहीं होता।

हम लोगो मे प्रत्येक को यह विचार करना चाहिए कि जीवन निकट से कैसा दिखाई पड़ता है। ईश्वरीय विचारधारा को जीवन को तौलने और मूल्य आंकने के लिए दृष्टिकोण बनाना एक महान सफलता है। इसकी बराबरी कोई वस्तु नहीं कर सकती।

इसी महान भाव को यजुर्वेद मे कहा गया है:—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

"जो सब जीवो मे आत्मा ही जानता है ऐसे एकत्व देखने वाले को क्या शोक और क्या मोह!"

इसलिये भगवान को ही अपना प्रदर्शक मानकर जीवन पावन करना चाहिये। पथ-विचलित न होने का वही एक मार्ग है क्योकि अर्जुन के शब्दो मेः—

पितासि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक कुतोऽन्यो,
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।

"तू इस चराचर जगत का पिता है, गुरु से भी वडा गुरु और पूजनीय है। हे अतिशय विभूति वाले, तीनो लोको मे भी तेरे समान कोई दूसरा नही है, फिर तुझसे बढ़कर कैसे होवे।"

और बृहत्स्तोत्र रत्नाकर के शब्दो मे.—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बधुश्च सखा त्व[illegible]।
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव त्वमेव सर्व मम देव[illegible]

"तू ही माता और तू ही पिता है, तू ही बन्धु और [illegible] सखा है, तू ही विद्या और तू ही द्रव्य है और हे देवो के तू ही मेरा सब कुछ है।"

—∞—

मुद्रक—अ [illegible] वर्मा, नागरी प्रेस, दारागज, प्रयाग।